जैन धर्म

(हिन्दी)

लेखक

भद्रबाहुविजयजी म. सा.

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा तीर्थ
२००४

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा द्वारा पूर्व प्रकाशित

श्री नमस्कार महामंत्र

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच नमुक्कारो
सव्व पावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं
पढमं हवई मंगलं

मैं अरिहंत भगवंतों को नमन करता हूं।
मैं सिद्ध भगवंतों को नमन करता हूं।
मैं आचार्य भगवंतों को नमन करता हूं।
मैं उपाध्याय भगवंतों को नमन करता हूं।
मैं लोक में रहे हुए सभी साधु भगवंतों को नमन करता हूं।

इन पाँचों को किया हुआ नमस्कार
सभी पापों को नष्ट करता है।
एवं, सभी मंगलों में
प्रथम (श्रेष्ठ) मंगल है!

जैन धर्म का यह परम मंत्र है। प्रत्येक जैन इस का जाप करता है। यह अत्यंत प्रभावशाली मंत्र है!

जैन धर्म यानी क्या?

जैन धर्म के बारे मे जानने से पूर्व 'धर्म' को भलीभांति समझ लेना नितांत जरुरी है। चूंकि धर्म के बारे में ज्यादा से ज्यादा गलत धारणाएं हजारों बरसों से पाली गयी है। धर्म न तो संप्रदाय का रूप है... न कोई पंथ या न किसी जाति के लिये आरक्षित व्यवस्था है! धर्म किसी भी व्यक्ति, समाज या स्थानविशेष के साथ पूर्णरूपेण आबद्ध नहीं है! धर्म तो है व्यक्ति या वस्तु का मूलभूत रूप! श्रमणभगवान महावीर ने धर्म की विशद व्याख्या समझाते हुए कहा : 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु का स्व-भाव यही धर्म है। जैसे कि अग्नि का स्वभाव जलाने का, पानी का स्वभाव शीतलता देने का! उसी तरह आत्मा का मूलभूत स्वभाव है ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र का!

वैसे देखा जाये तो धर्म की अलग अलग परिभाषाएं भिन्न भिन्न संदर्भो में उपलब्ध होती हैं... पर यदि सरल एवं स्पष्ट अर्थ चाहिए तो वह होगा 'जीवन को उन्नत एवं उदात्त बनायें.... वैसी आचारसंहिता एवं विचारव्यवस्था का विस्तृत रुप यानी धर्म!' जीवन को सही अर्थ में जानने, समझने के लिए धर्म ही एक माध्यम हो सकता है। वही धर्म वास्तविक तौर पर धर्म हो सकता है जो आत्मा को सुख-शांति एवं प्रसन्नता की पगडंडी पर गतिशील बनाये! जिनेश्वर भगवंतों ने ऐसे धर्म का कथन किया.... जिसे :

आर्हत धर्म - अरिहंतों का धर्म।
अनेकान्त दर्शन - एकान्तवादरहित विचारधारा।
वीतरागमार्ग - राग-द्वेषरहित परमात्मा का बताया हुआ धर्म।

आदि अलग अलग नामों से भी जाना जाता है!

जिन कौन?

जैन धर्म के प्ररूपक है जिन! जिन यानी विजेता! जीतनेवाले! जिन्दगी का चरम एवं परम लक्ष्य है मुक्ति! मोक्ष! मोक्ष

की प्राप्ति में राग एवं द्वेष प्रबल अवरोधक हैं। इन दोनों को भीतरी शत्रु माना गया है। आत्मा को जन्म-जन्मांतर के चक्कर में फंसाने वाले ये दो ही मुख्य दुश्मन हैं। काम-क्रोध-लोभ-मद-मत्सर वगैरह सब तो इन दो (राग-द्वेष) के ही चोंचले हैं! इन शत्रुओं पर पूर्णतया विजय पाने वाले 'जिन' कहे जाते हैं! वे अन्य नामों से भी जाने जाते हैं।

अरिहंत - अरि = शत्रु, हंत = मारनेवाले, आंतर शत्रुओं को खत्म करने वाले।

अर्हन् - पूजनीय = पूजा करने के योग्य।

वीतराग - रागद्वेष से रहित।

सर्वज्ञ - सब कुछ जानने वाले-केवलज्ञानी।

परमेष्ठि - परमपद को प्राप्त हुए।

सर्वदर्शी - सब कुछ देखने वाले।

ऐसे जिनों ने खुद अपने जीवन में जिस धर्म को जिया.... और फिर दुनिया को साधना का मार्ग बतलाया.... वह साधकों के लिए धर्म हो गया ! 'जिनों' ने इस धर्म की प्ररूपणा की, अतः इसका नाम हो गया जिनधर्म !

जैन कौन?

विष्णु के भक्त वैष्णव, शिव के भक्त शैव, बुद्ध के अनुयायी बौद्ध.... ईशु के अनुयायी ईसाई कहलाते है.... वैसे ही जिनेश्वर के अनुयायी 'जैन' के रुप में पहचान जाते हैं। और इसी वजह से 'जैन धर्म' के नाम से यह धर्म ज्यादा प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हुआ है।

'जिनेश्वर के बतलाये हुए रास्ते पर चले वह जैन!'

फिर वह किसी भी देश का हो.... सम्प्रदाय/ या पंथ का हो.... किसी भी मान्यता के माहौल में जन्मा हो.... या बड़ा हुआ हो! जैन धर्म कोई संप्रदाय नहीं है.... पंथ नहीं है! जाँत पाँत के भेदभाव बगैर हर कोई व्यक्ति इस धर्म की आराधना कर सकता है....! सब के लिये प्रस्तुत यह जीवंत धर्म है!

जैन धर्म

यह धर्म समूचे विश्व के धर्मों से एकदम स्वतंत्र, अलग एवं व्यवस्थित है। इस धर्म के पास इसका अपना मौलिक तत्त्वज्ञान है.... बरसों पुरानी परंपरा में कसी गयी आचारव्यवस्था है। जैनधर्म के पास उसकी निराली दृष्टि है.... समझ है....। जिसके जरिये विश्व के प्रत्येक पदार्थ को बिल्कुल नये फिर भी सही आयाम में देखा-परखा जा सकता है।

वैसे इस धर्म के आरंभ की कोई निश्चित तिथि या तारीख नहीं है। इसके आद्य प्रवर्तक या प्रस्थापक के रुप में किसी भी विभूति का स्थान नहीं है! जैन धर्म अनादि काल से चला आ रहा है....। काल की अपेक्षया.... समय के अनुसार जो परिवर्तन होते हैं उन्हें क्रमविकासवाद या क्रमविनाशवाद के रुप में पहचाना जाता है। समय के अनंत-असीम प्रवाह में विकास-विनाश का यह क्रम चलता ही है।

आरा की व्यवस्था

काल (Time) के मुख्यतया दो हिस्से हैं :

अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी

अवसर्पिणी काल यानी क्रमशः उतरता समय....। इस समय के दौरान आयुष्य, शरीर, बल, सुख, बुद्धि वगैरह कम होते जाते हैं.... जब कि उत्सर्पिणीकाल यानी वृद्धिप्राप्त करता समय....। इसमें सुख-समृद्धि, बल, शरीर वगैरह ज्यादा से ज्यादा बढ़ने लगते हैं। यह विकास एवं विनाश भी समूह की अपेक्षया होता है.... व्यक्ति की अपेक्षया नहीं!

अवसर्पिणी काल जब उसकी चरम सीमा पर पहुँचता है तब उत्सर्पिणी काल शुरु होता है, और जब उत्सर्पिणी काल पराकाष्ठा पर पहुँचता है तब अवसर्पिणी काल का आरंभ होता है। यह कालचक्र (Wheel of Time) इसी तरह घूमता ही रहता है.... इस घटमाल का कभी कोई अंत नही होता। इसलिये तो इसे काल (समय) एवं चक्र (पहिया) की संज्ञा दी गई! घूमता ही रहे.... घूमता ही रहे! इन दोनों काल के ६-६ विभाग होते हैं जिन्हे आरा के नाम से जाना जाता है!

१. सुखद ही सुखद (सुषम सुषमा काल)

२. सुखद (सुषमा काल)

३. सुखद-दुःखद (सुषम दुषमा काल)

४. दुःखद-सुखद (दुषम सुषमा काल)

५. दुःखद (दुषमा काल)

६. दुःखद ही दुःखद (दुषम दुषमा काल)

इस समय वर्तमान में अपन हम अवसर्पिणी (पतन का समय) दुःखद नाम के पाँचवें आरे में से गुजर रहे हैं!

तीर्थ एवं तीर्थंकर -

प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी में २४-२४ तीर्थंकर पैदा होते हैं। वे साधना करके पूर्णज्ञानी बनते हैं, वीतराग बनते हैं, जिन बनते है और फिर समग्र सृष्टि के जीवों के आत्मकल्याण के लिये 'धर्मतीर्थ' की स्थापना करते हैं। वे 'तीर्थ' की स्थापना करते हैं अतः उन्हें 'तीर्थंकर' कहा जाता है। 'तीर्थ' की एक परिभाषा है संघ यानी 'चाउवण्णो संघो तित्थं' = साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारुप चतुर्विध संघ को तीर्थ कहा गया है। इन चारों के साधनामार्ग की सुंदर व्यवस्था स्वयं तीर्थंकर परमात्मा निर्दिष्ट करते हैं। तीर्थंकर जब देहभाव से मुक्त होकर वि-देह बनते हैं.... मोक्ष में चले जाते हैं, तब फिर इनकी आत्मा कभी वापस संसार में आकर देह धारण नहीं करती। वापस वे अवतार नहीं लेते। पर इसी संसार की अन्य विशिष्ट आत्माएं विशिष्ट आत्मसाधना करके तीर्थंकर पद तक पहुँचती हैं। एक बार आत्मा कर्मो के बंधनों से मुक्त हो चुकी, इसके बाद फिर कभी वह संसार में नहीं लौटती, संसारी नहीं बनती, एवं न ही कभी कर्मो से लिप्त होती है।

तीर्थस्थापना

चौबीस तीर्थंकर-जिनेश्वर अपने-अपने समय में तीर्थ की स्थापना करते हैं.... धर्मसाधना के लिये स्पष्ट एवं सुरेख मार्गदर्शन देते हैं। जैनधर्म का मौलिक रुप भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक एक सा रहा है। धर्म का अंतिम साध्य (Ultimate achievement) तो मुक्ति या मोक्ष ही रहा है। मुक्ति की प्राप्ति के लिये साधनरुप बनता है अहिंसा, सत्य इत्यादि का आचरण। इस आचरण में हालाँकि, प्रमाणभेद या मात्राभेद अवश्य होता है, हुआ है। पर किसी भी तीर्थंकर के समय में स्वरूपभेद (Difference of form) नहीं हुआ कि नहीं होगा। शाश्वत् सत्य का जो उपदेश आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने दिया, वही सनातन सत्य श्रमण भगवान महावीर ने निरुपित किया। वही उपदेश आज जैनधर्म के नाम से जाना जाता है।

इस गुजरते हुए समय में भी वैसे चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। दुषम सुषमा (चतुर्थआरे) में पहले तीर्थंकर थे भगवान श्री ऋषभ देव-आदिनाथ ! उन्होंने धर्म की जो राह बतलायी उसी परंपरा में हुए २३ तीर्थकरों ने भी अपने अपने समय में उसी धर्म की राह को फिर जीवंत बनाया।

भगवान महावीर

इस अवसर्पिणी काल में अंतिम तीर्थंकर हुए श्रमण भगवान महावीर स्वामी, जो कि गौतम बुद्ध, लाओ-त्से, कन्फ्यूशियस, सोक्रेटीस वगैरह के समकालीन थे। भगवान महावीर का जन्म, भारतीय तिथि के मुताबिक चैत्र शुक्ला १३/ सोमवार एवं इस्वी पूर्व ५९९ बरस ३० वीं मार्च, को वर्तमान बिहार राज्य के क्षत्रियकुंड गांव में राजा सिद्धार्थ एवं रानी त्रिशला के वहां वर्धमान कुमार के रुप में हुआ था। ३० बरस की उम्र में उन्होनें कार्तिक कृष्ण १०/ सोमवार/ २९ दिसंबर इ. पू. ५६९ को संसार का त्याग करके साधना का जीवन स्वीकार किया था । साढ़े बारह बरस की घोर एवं कठिन साधना करके वैशाख शुक्ला १० रविवार २३ अप्रेल इ. पू. ५५७ वर्ष में उन्होंनें पूर्णज्ञान केवलज्ञान को प्राप्त किया एवं वैशाख शुक्ला ११ के दिन उन्होनें धर्मतीर्थ की स्थापना की- जगत को आत्मशुद्धि एवं आत्मसिद्धि का बहुआयामी (Multidimentional) राह दिखलाया। वही संघव्यवस्था आज भी चालु है। कार्तिकी अमावास्या, मंगलवार, १५ अक्तूबर/ इ. पू. ५२७ को प्रभु महावीर देव महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए यानी उनकी जीवन-लीला समाप्त हुई एवं वे मुक्त बन गये।

साधना मार्ग

जैन परंपरा का साधना-मार्ग व्यक्ति एवं क्षमता की अपेक्षया दो विभागों में विभक्त है। एक है साधु जीवन अंगीकार करके आत्मकल्याण की कठिन साधना करने का मार्ग एवं दूसरा है गृहस्थजीवन में रहते हुए यथाशक्य आत्मशुद्धि की साधना करने का मार्ग!

१. सर्वविरति - साधु धर्म

२. देशविरति - गृहस्थ धर्म

सर्वविरति :

तमाम भांति के पापकर्मो से विरत होना। मन से पापों का विचार नहीं करना, वाणी से पापों के शब्द नहीं बोलना एवं काया से पाप की कोई प्रवृत्ति नहीं करना। स्वयं कभी पाप करना नहीं.... अन्य के द्वारा कभी पाप करवाना नहीं.... या यदि कोई पापकार्य करे तो उसमें अनुमोदन या अनुमति नहीं देना। ये भी मन वचन, काया से नहीं करना।

स्त्री या पुरुष विरक्त बनकर जब घर का संसार त्याग कर के संयमधर्म की दीक्षा ग्रहण करते हैं तब उस पुरुष को साधु, श्रमण या मुनि कहा जाता है, जबकि स्त्री को साध्वी या श्रमणी-आर्या कहा जाता है।

साधु या साध्वी बनकर संयमी जीवन को ग्रहण करनेवाला व्यक्ति प्रतिज्ञापूर्वक पाँच महाव्रतों (विशिष्ट तरह की पाँच प्रतिज्ञाएं) का स्वीकार करता है।

पाँच महाव्रत -

प्राणातिपातविरमण महाव्रत - **अहिंसा**
मृषावादविरमण महाव्रत - **सत्य**
अदत्तादानविरमण महाव्रत - **अचौर्य**
मैथुनविरमण महाव्रत- **ब्रह्मचर्य**
परिग्रहविरमण महाव्रत - **अपरिग्रह**

दीक्षा लेनेवाला व्यक्ति प्रतिज्ञापूर्वक कहता है कि- "हे अरिहंत भगवंत! मैं मन-वचन-काया से हिंसा, असत्य, चोरी, भोगविलास एवं परिग्रह का सेवन न तो खुद करुंगा.... न और किसी से करवाऊंगा.... यदि कोई करता होगा तो मैं उसका समर्थन भी नहीं करूंगा। हे प्रभो, इन पाँचो महाव्रतों का जीवनपर्यन्त पालन करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूं।"

जैन साधु-साध्वी कभी किसी भी जीव की हिंसा नहीं करते। छोटे से छोटे जंतु को भी पीड़ा नहीं देने की प्रतिज्ञा के साथ वे जीवन जीते हैं।

कैसी भी परिस्थितियाँ आ घेरें.... वे कभी झूठ नहीं बोलते। हँसते-हँसते.... या डर से.... लालच से.... या गुस्से में आकर.... अथवा छल-कपट करके भी कभी झूठ का सहारा नहीं लेते।

मालिक की इजाजत लिये बगैर वे छोटी से तिनके जैसी चीज भी नहीं लेते ।

उन्हे पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है.... इस बारे में उनके नियम काफी कड़क एवं एकदम सतर्कताभरे होते हैं। साधुओं के लिये स्त्री, फिर वह किसी भी उम्र की हो, एवं साध्वी के लिये पुरुष, चाहे किसी भी उम्र का हो.... उनके लिये विजातीय स्पर्श बडी सख्ती से निषिद्ध है.... गलती से भी, अनजाने में भी छू ले तो इसके लिये उन्हे प्रायश्चित लेना होता है।

छोटी बच्ची या छोटे बच्चे को भी स्पर्श नही करने के नियम के पीछे वृत्ति को तनिक भी छूट नही देने का हेतु है.... चूंकि उम्र की कोई मर्यादा तो स्पर्श के लिये तय हो नहीं सकती! और फिर यह पता भी कैसे लगे कि किसकी कितनी उम्र है? इसलिये पूर्णरुपेण स्पर्श निषेध किया है। इस नियम का चुस्ती से पालन करने के लिये और भी कई सावधानियां बरतने की होती हैं.... इस सबके पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक असर का स्थान है। मन को यदि एक बार जरा सी छूट दी गई तो वह कदम ब कदम नीचे उतरता ही जायेगा।

जैन साधु अपने पास पैसा नहीं रख सकते। अपनी संपत्ति मकान या ऐसी कोई भी चल-अचल संपदा वे नहीं रखते। जीवन की आवश्यकताओं को अत्यंत सीमित रखते हुए इसके अलावा तमाम पदार्थों को परिग्रह मानकर वे ग्रहण नहीं करते! इन पाँच महाव्रतों के अलावा उन्हें और भी कई नियमों का पालन करना होता है!

कुछ विशेष नियम :

जैन साधु सूर्यास्त के बाद न तो भोजन लेते हैं न ही पानी पीते हैं । सूर्योदय होने के बाद ४८ मिनट गुजरने के पश्चाद् वे मुंह में पानी डालते है.... रात को तो वे कभी खाना-पीना नहीं लेते।

गौचरी (भिक्षाव्यवस्था)

वे खाने-पीने के लिये न तो खुद पकाते हैं.... न ही किसी अन्य के द्वारा पकवाते हैं.... अपितु घर घर घूमकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते हैं....। इस प्रक्रिया को गौचरी कहा जाता है। गाय जिस तरह अलग अलग जगह पर थोड़ा थोड़ा चारा चरती है उसी तरह मुनि भी एक जगह से सब आहार न लेते हुए अलग अलग जगह से भिक्षा ग्रहण करते हैं। बहुधा वे जैन परिवारों में ही जाते है भिक्षा के लिये, पर जैन के अलावा भी शाकाहार करने वाले किसी भी जाति के घर पर जाकर वे शुद्ध गौचरी ग्रहण कर सकते हैं....!

जैन मुनि एक ही घर से या एक ही रसोईघर से अपन को चाहिए उतनी सारी भिक्षा नहीं लेते, चूंकि यदि वे एक ही जगह से बहुत सारी खाद्य सामग्री ले लें तो गृहमालिक को अपने लिये या अपने परिवार के लिये नया खाना बनाना होगा.... इसके लिये चूल्हा जलाने से लेकर पकाने तक बहुत कुछ करना पडता है....। सामनेवाले को परेशानी न हो.... किसी का भी दिल न दुःखें.... टीस न पहुँचें.... यह तो साधु का जीवनध्येय होता है....। इसलिए वे एक जगह से उतना ही खाना बगैरह लेते हैं जितना कि सामनेवाला खुशी-खुशी दे सके। वे घर के बाहर खडे रहकर भिक्षा नहीं लेते बल्कि खाना बनने की जगह पर या रखने की जगह पर स्वयं जाकर, खुद निरीक्षण करके भिक्षा ग्रहण करते हैं, ताकि परिस्थिति का पूरा खयाल आ सके।

क्या खाना? कब खाना? कैसे लेना? कितना लेना? कहाँ से लेना? इन सभी बातों में उनकी अपनी निश्चित एवं सुनियोजित आचार-संहिता होती है।

गौचरी लेने के लिये जाते समय-ग्रहण करते समय बयालीस एवं खाते समय पाँच = कुल सेंतालीश (४७) बातों की सावधानी उन्हें बरतनी होती है।

वे हमेशा लकड़ी के बने हुए पात्र, जिन्हें 'पातरे' कहा जाता है, में ही भिक्षा लाते हैं एवं भोजन करते हैं....। पीने का पानी रखने के लिये मिट्टी के बने हुए मटके का उपयोग करते हैं।

वे पानी भी हमेशा छानकर ऊबाला हुआ ही पीते हैं एवं उपयोग में लेते हैं।

कई साधु तो तरह तरह की तपश्चर्याएं भी करते हैं, कई दिनों तक.... महीनों तक उपवास भी करते हैं।

कुछ साधु दिन में एकबार एक ही जगह पर बैठकर भोजन करते हैं-वह भी रुखा-सूखा.... मसाले एवं घी-तेल बिना का! जिसे 'आयंबिल तप' कहा जाता है। आज भी ऐसा आयंबिल तप महीनों-महीनों तक लगातार करनेवाले कई साधु साध्वीजी हैं। इसके अलावा एकाशन, बियाशन वगैरह तप भी वे करते रहते हैं!

वे हमेंशा पदयात्रा जिसे विहार कहते है.... करते हैं....। यानी कि पैरो से चलकर एक गाँव से दूसरे गाँव जाने का। चाहे जितना दूर क्यों न जाना हो-वे हमेशा चलकर ही जायेंगे। कभी भी वाहन का प्रयोग वे नहीं करते। सर्दी हो.... गर्मी हो.... कांटे हो या कंकर हो.... जलते रेगिस्तान की धूल हो या-तपती हुई सड़क हो-वे कभी भी पैरों में जूते-चप्पल वगैरह नहीं पहनते! जीवनपर्यंत वे पदयात्रा ही करते रहते हैं! पदयात्रा के दौरान वे धर्मोपदेश एवं श्रद्धालु-जनों को जीवन के लिये समुचित मार्गदर्शन देते रहते हैं।

बारिश के दिनों में चातुर्मास के चार महीने (भारतीय पंचाग के मुताबिक आषाढ शुक्ला १४ से कार्तिक शुक्ला १४ तक) वे एक ही स्थान पर रुकते हैं। जिसे चातुर्मास-वर्षावास करना कहते हैं। बाकी के आठ महीने वे अपनी अनुकूलता एवं लोगों को धर्माभिमुख बनाने की सामयिक सुविधा के मुताबिक विहार यात्रा करते रहते हैं।

जैन साधु-साध्वी दीक्षा लेने के पश्चात् उनके शास्त्रीय नियमों के अनुसार स्वयं या नाई के पास बाल कटवाते नहीं है या नही वे मुंड़न करवाते हैं.... परंतु साल में दो बार या कम से कम एक बार तो अवश्यमेव (पर्युषण के समय) स्वयं या अन्य किसी के हाथों सर एवं दाढी-मूंछ के बाल खींचकर निकालते है.... इसे केशलूंचन या लोच कहा जाता है....।

जीवनयात्रा :

वे हमेंशा बिना सिले हुए श्वेत वस्त्र पहनते हैं। चोलपट्टक, पांगरणी, उत्तरीयवस्त्र, कपड़ा, कमली-ये उनके पहनने के वस्त्र होते हैं। जबकि संथारा, आसन, उत्तरपट्टक वगैरह बिछाने के वस्त्र के रुप में जाने जाते हैं।

उनके हाथ मे हमेंशा मुहपत्ति (कपडे का निश्चित नाप का एक रुमाल सा टुकड़ा) एवं ओघा (रजोहरण) रहता है.... जब उन्हे मकान के बाहर दूर जाना हो तब वे लकडी का एक गोल डंडा जिस के उपरी भाग में मेरु का चिह्न खुदा हुआ रहता है, भी अपने साथ रखते हैं। यह उनके पहचानने के चिन्ह है!

बहुधा तो सूर्यास्त के बाद रात्रि में अपने निवासस्थान से साधु-साध्वी बाहर नहीं निकलते। वे जहां रहते हैं उस स्थान को उपाश्रय-पौषधशाला कहा जाता है। उपाश्रय के अलावा जहां कहीं उनके संयमजीवन के नियमों का पालन हो सकता हो एवं साधना को क्षति न पहुँचे वैसे स्थान में भी वे रह सकते हैं।

जात-पाँत, श्रीमंत-गरीब, ऊँचा-नीचा इस तरह के किसी भेदभाव के बगैर वे अपने पास आनेवाले सभी को 'धर्मलाभ' (तुम्हे धर्म की प्राप्ति हो....) शब्द बोलकर आशीर्वाद देते हैं....। श्रद्धालुजनों के मस्तक पर वासक्षेप, (चंदन का सुगंधित चूर्ण) जो कि मंत्रपूत होता है, डालकर वे 'तुम संसार की आधि-व्याधि-उपाधि से मुक्त बनो' वैसा शुभ कामनारुप आशीर्वाद देते हैं।

वार्तालाप-प्रवचन, ज्ञानगोष्ठी, संस्कार-शिबिर वगैरह के माध्यम से हर किसी को सत्य-संयम एवं स्वस्थ जीवन का मार्ग बतलाते हैं। मार्गदर्शन करते हैं।

उनका खुद का समग्र जीवन आत्माभिमुख होता है। समूची जीवन-चर्या का लक्ष्य आत्मशुद्धि एवं आत्मानुभव की

प्राप्ति यही होता है। इसके लिये वे अपनी रोजाना की क्रियाओं में सुबह शाम दोनों समय निम्न क्रियायें करते हैं :

प्रतिक्रमण : जाने-अनजाने में किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करने की क्रिया।

प्रतिलेखन - पडिलेहण : उपयोग में आनेवाले वस्त्र-पात्र का बारीकी से अवलोकन करने की क्रिया करते हैं। इसके अलावा परमात्मदर्शन-वंदन-स्तवन, गुरुजनों की सेवा, अपने सहवर्ती बीमार-वृद्ध साधुओं की सार-संभाल, स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन, अध्यापन, चिंतन-मनन एवं लेखन वगैरह दिनचर्या मुख्य होती है।

स्थापनाचार्यजी -

जैन साधु साध्वी अपनी तमाम धर्मक्रियाएं स्थापनाचार्यजी के समक्ष करते हैं।

शंख के निचले हिस्से को विशेष आकृति देकर उसमें पंचपरमेष्ठि की विधिपूर्वक स्थापना की जाती है। उन्हें प्रतिष्ठित किया जाता है। फिर उसे रुमाल में लपेट कर लकडी के बने हुए विशेष 'स्टेन्ड' पर रखा जाता है। इसे भगवान या स्थापनाचार्यजी के नाम से पहचाना जाता है। प्रवचन वगैरह के समय भी इन्हें समक्ष रखा जाता है। हर साधु-साध्वीजी के समूह में इसका होना अनिवार्य माना गया है। उपाश्रय वगैरह में भी इन्हें रखा जाता है।

साधु-साध्वी यदि कभी बीमार हो जाय तो? अलबत्ता, अपनी सहनशक्ति के अनुसार देह की पीड़ा को वे सहन करते हैं। पर जब शारीरिक पीड़ा मन को भी अस्वस्थ करने की हद तक पहुँचती है तब निर्दोष एवं निष्पाप उपचारों के द्वारा बीमारी का इलाज भी करते हैं। सामान्यतया वे हिंसक दवाईयाँ प्रयोग में नहीं लाते, पर कभी कोई बड़ी असाध्य बीमारी घेर ले.... तब यदि 'ऑपरेशन' वगैरह करवाना पडे तो स्वस्थ होने के पश्चात् वे इसका प्रायश्चित्त कर लेते हैं।

जैन साधु-साध्वी अपने वस्त्र स्वयं धोते है.... इसके लिये वे उबाले हुए पानी का ही उपयोग करते है। साबुन वगैरह का उपयोग करते हैं पर कपड़े धोने के बारे में भी उनके कुछ विशेष नियम होते हैं। वे कभी भी स्नान नहीं करते हैं। चूंकि उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है। अतः शरीर को सजाना-संवारना या उसे सुंदर बनाना उनके लिये निषिद्ध हैं।

साधु-साधु एवं साध्वी-साध्वी जब परस्पर मिलते हैं तब एक दूजे के अभिवादन हेतु 'मत्थएण वंदामि' (मैं आपको नमस्कार करता हूं) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

पद प्रदान :

जैन साधु दीक्षित होने के पश्चाद् ज्ञान-ध्यान एवं संयम साधना में डूबे रहते हैं। साधनामार्ग पर आगे बढते हुए जब वे उच्च कक्षा में पहुँचते हैं तब उनके गुरुजन उन्हें चतुर्विध संघ की उपस्थिति में कुछ विशेष पदवियाँ भी देते हैं। फिलहाल निम्न पदों का प्रचलन हैं :

आचार्य पद :

यह पद काफी उच्च एवं इतना ही जिम्मेदारीभरा माना गया है। समग्र संघ एवं शासन की जिम्मेदारी आचार्य के सर पर होती है! इस पद को प्राप्त करने से पूर्व तमाम जैन आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन-परिशीलन, कुछ विशिष्ट तरह की शारीरिक योग्यताएं, कुछ मंत्रसिद्धियाँ, प्रभावशाली व्यक्तित्व, नितांत जरुरी माना गया है । देश की विविध भाषाओं का अध्ययन, षड्दर्शन उपरांत देश में प्रचलित विविध धर्मों का एवं विचारधाराओं का ज्ञान भी होना चाहिए।

उपाध्याय पद :

समूचे साधु-साध्वीगण को अध्ययन करवाने में सक्षम, विशिष्ट आगमों के ज्ञान एवं गुणों से युक्त मुनि को यह पद दिया जाता है....। दीक्षाजीवन के अमुक बरसों के बाद ही यह पद दिया जा सकता है। वह भी योग्य एवं अधिकारी व्यक्ति को।

पंन्यास एवं गणि पद :

दीक्षा जीवन के कुछ बरस बीतने पर विशिष्ट अध्ययन, साधना, उपासना के द्वारा जीवन प्रभावशाली बनें तब यह पद दिया जाता है। इसके लिये सभी जैन आगमों का तलस्पर्शी ज्ञान आवश्यक है। गणिपद के लिये 'भगवती सूत्र' के योगोद्वहन एवं पंन्यासपद के लिये सर्वानुयोग (तमाम आगम) का सर्वांगीण अध्ययन आवश्यक है!

इस सभी पदों को प्राप्त करने के पूर्व महीनों महीनों तक विशिष्ट यौगिक क्रियाओं के साथ साथ आयंबिल वगैरह की तपश्चर्याएं करनी होती है। जिसे योगोद्वहन कहा जाता है!

साध्वीगण के लिये पद :

विशिष्ट शक्ति एवं प्रभावकता व संयम की निर्मलता के साथ साथ संघ एवं शासन के प्रति अपूर्व निष्ठा रखनेवाली साध्वीजी के लिये महत्तरा, प्रवर्तिनी जैसे पदों की व्यवस्था जैन संघ में है सही, पर फिलहाल इनका ज्यादा प्रचलन नहीं है।

आजकल इन सब के उपरांत भी अन्य कई विशिष्ट पद दिये जाते हैं पर वे व्यक्ति की शक्ति एवं प्रभावकता को सन्मानित करने हेतु दिये जाते हैं।

जैन साधु अपनी विशिष्ट जीवनपद्धति के कारण अन्य साधुओं से काफी अलग उभर आते हैं। ऐसे साधु-साध्वी का पूरा जीवन आत्मा को समर्पित होता है.... उनका तमाम पुरुषार्थ, सारे क्रिया-कलाप आत्मा को परमात्मदशा में परिवर्तित करने के लिये ही होते हैं। ऐसा समर्पणभाव एवं प्रबल पुरुषार्थ ह्रदय में पैदा हो, सुस्थिर एवं सुदृढ हो.... तब ही श्रमणजीवन सार्थक हो सकता है....। जब तक यह स्थिति पैदा न हो तब तक गृहस्थ जीवन में रहते हुए यथाशक्य धर्मआराधना की जा सकती है। अपनी शक्ति, क्षमता-रस-एवं अभिरुचि के अनुसार मोक्षमार्ग के प्रति मंद पर मजबूत गति-प्रगति की जा सकती है। इसके लिये जिनेश्वर भगवंतों ने देशविरति धर्म का उपदेश गृहस्थ वर्ग के लिये दिया है!

देशविरति (गृहस्थ धर्म)

जिनेश्वर परमात्मा के जीवन एवं कवन के प्रति जिन्हें प्रेम है.... आदर एवं भक्ति है, परमात्मा के द्वारा बतलाये हुए मोक्षमार्ग पर चलने की जिनके दिल में चाहना है.... अभीप्सा है.... एवं जो यथाशक्य प्रयत्न भी करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं.... उन्हें जैन परिभाषा में श्रावक एवं श्राविका कहा जाता है!

साधु-साध्वी की भांति श्रावक-श्राविका जीवनपर्यन्त हिंसा-असत्य-चोरी-भोगविलास व परिग्रह का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकते। घरसंसार के निर्वाह के लिये इन बातों का सदंतर त्याग मुमकिन नहीं है.... अतः परमात्मा ने उनके लिये अलग देशविरति धर्म की राह दिखायी है। देशविरति यानी पापों का आंशिक त्याग करना (देश = आंशिक + विरति = पापों का त्याग)

श्रावक जीवन के बारह व्रत :

नाम निर्देश एवं अतिचार (संभवित स्खलना के प्रकार)

व्यक्ति का चरित्र जितना श्रेष्ठ होगा उतना ही समाज तंदुरूस्त एवं राष्ट्र की तस्वीर उतनी ही उम्दा व उन्नत होगी। चरित्रश्रेष्ठता के उपायों के तौर पर तीर्थंकर परमात्मा ने १२ व्रत की बड़ी ही मनोवैज्ञानिक व्यवस्था का दिग्दर्शन किया है। व्रत-अतिचार वगैरहरुप जो आचारसंहिता है.... वह सचमुच आचरण करने के लिये उपयुक्त ही नहीं अपितु अनिवार्य है।

अतिचार यानी भूल-गलती-स्खलना! आंशिक तौर पर प्रतिज्ञा का भंग होना उसे कहते है अतिचार! मुख्यतया व्रत बारह हैं, एवं प्रत्येक व्रत के ५-५ अतिचार बतलाये गये हैं। व्रतपालन की पूरी सावधानी के बतौर अतिचारों का भी त्याग करना चाहिए। १२ व्रत :- तीन विभागों में आकलित हैं :

५ अणुव्रत (अणुव्रत यानी छोटे एवं स्थूल प्रतिज्ञामय मूलव्रत)

३ गुणव्रत (मूलभूत व्रतों को संरक्षित करके उनमें बढ़ोतरी करने वाले गुणरुप)

४ शिक्षाव्रत (संसार में रहते हुए साधु जीवन की हल्की अनुभूति करवाने वाले शिक्षात्मक, अभ्यासात्मक व्रत)

१२

(५ अणुव्रत)

१. स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत -

किसी भी जीव-जन्तु की जानबूझकर एवं बिनजरुरी हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. किसी भी जीवात्मा को बांधना, जेल में डालना।
२. पशुओं को मारना, पीटना-प्रताडित करना।
३. उसके अंगोपांग का छेदन करना, काटना, बधिया करना।
४. उन पर ज्यादा भार डालना।
५. भोजन पानी या घास-चारा डाले बगैर उन्हें भूखा रखना।

२. स्थूल मृषावादविरमण व्रत -

किसी भी प्रसंग या घटना में बेवजह या जानबूझकर झूठ नहीं बोलने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. सबूत या प्रमाण के बगैर किसी पर झूठा आरोप मढ़ना।
२. दूसरों की निजी-गुप्त बातें प्रगट कर के दोषारोपण करना।
३. अपनी पत्नी या निकट के व्यक्ति की गुप्त बातें प्रकट करना।
४. गलत सलाह एवं गलत राय देना।
५. झूठे एवं जाली दस्तावेज बनाना, जाली हिसाब-किताब रखना।

३. स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत -

जानबूझकर एवं कारण बगैर किसी की वस्तु नहीं चुराने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. चोरी का माल खरीदना।
२. चोरी करवाना, चोर को मदद करना, उसे आश्रय देना।
३. राज्यव्यापार संबंधी आयात-निर्यात एवं कर के नियमों का भंग करना । तस्करी करना।
४. गलत एवं जाली नाप-तौल व तराजू रखना।
५. मिलावट करना, असली-नकली माल एक करना।

४. स्थूल मैथुनविरमण व्रत -

परस्त्री एवं परपुरुष के जातीय संबंध (Sexual Affairs) कामोत्तेजक वार्तालाप वगैरह नहीं करने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. अविवाहित, विधवा-विधुर स्त्री-पुरुषों के साथ जातीय संबंध रखना ।
२. रखैल (Kept) रखना या वेश्यागमन करना (स्त्री के लिये-पुरुष का उपभोग)
३. औरों के समक्ष कामोत्तेजक चेष्टा या चुहलबाजी करना।
४. अपने संतानों के अलावा अन्य की सगाई-शादी करना-करवाना।
५. मर्यादाविहीन वेशभूषा, साजसज्जा करना, उत्तेजक दवाईयाँ वगैरह लेना।

५. स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत -

चीज-वस्तुओं के संग्रह की एवं उनके उपयोग की सीमा निर्धारित करना। उनकी संख्या एवं मात्रा तय करने की प्रतिज्ञा करना।

अतिचार -

१. प्रतिज्ञा की सीमा से ज्यादा पैसे-रुपये रखना।
२. खेत, मकान, जमीन वगैरह अमर्याद रखना।
३. सोना-चांदी-गहने, जवाहरात वगैरह ज्यादा रखना।
४. घरेलु सामान ज्यादा रखना।
५. निश्चित दास-दासी, नौकर एवं पालतू पशु-पक्षी से ज्यादा संख्या में रखना।

(३ गुणव्रत)

६. दिक्परिमाण व्रत -

आने-जाने/ घूमने-फिरने/ प्रवास-पर्यटन वगैरह के विस्तरण की मर्यादा रखने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. ऊपर की ओर (ऊँचाई, पर) जाने की सीमा न बांधना।
२. नीचे भूमिगृह-तलघर में, समुद्र में गहरे जाने की सीमा न बांधना ।
३. आगे-पीछे/ आस-पास की चारों दिशाओं में जाने की मर्यादा निर्धारित न करना।
४. चारों दिशा में उपर-नीचे जाने की सीमा का उल्लंघन करके आगे चले जाना।
५. जाने की मर्यादा को अनजाने में लांघ जाना।

७. भोगोपभोगविरमण व्रत -

इस व्रत की प्रतिज्ञा में दो शब्द है : भोग और उपभोग।

भोग : जिन चीजों का एक ही बार उपयोग किया जा सके : जैसे कि अनाज, पानी, विलेपन इत्यादि।

उपभोग : जिन वस्तुओं का बारबार प्रयोग किया जा सके : घर, गहने, कपडे, शरीर इत्यादि। इन दोनों के उपयोग की मर्यादा रखने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. सचित्त-सजीव (वनस्पतिजन्य) आहार वगैरह का त्याग न करना, मांसाहार-शराब का त्याग न करना।

२. सजीव वस्तु के साथ संसक्त निर्जीव (अचित्त) वस्तु का उपयोग करना ।

३. रानीबोर, जामून, सीताफळ वगैरह तुच्छ पदार्थों का उपयोग करना।

४. पकाये बगैर कच्चे-शाकभाजी वगैरह खाना।

५. अर्धपक्व आहार ग्रहण करना।

८. अनर्थदंडविरमण व्रत -

ऐसे कार्य एवं ऐसा व्यवहार कि जो न करे तो भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, वैसी गैरजरुरी-फालतू प्रवृत्तियों का त्याग करने की प्रतिज्ञा यानी जिससे कुछ भी लाभ न हो और दूसरों को कष्ट पहुँचे, ऐसी अनर्थकारक प्रवृत्तियों का त्याग करने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. वृत्तिओं को उत्तेजित करे वैसा साहित्य पढना.... वैसे दृश्य देखना!

२. शरीर की चेष्टाओं के द्वारा हँसना-हँसाना, 'मोनो एक्टिंग' करना.... मुँह चिढ़ाना।

३. बेमतलब बातें करना.... गप्पे लड़ाना.... बड़बड़ाहट करना।

४. हिंसा के लिये शस्त्र-साधन तैयार करना, रखना।

५. उपभोग-भोग की वस्तुएं ढेर सारी एकत्र करना।

इन पाँचों अतिचारों के उपरांत इस व्रत में १५ कर्मादान (जिन प्रवृत्तियों के जरिये कर्म बंधते हो वैसी व्यापारिक प्रवृत्तियाँ) का त्याग करना चाहिए।

कर्मादान -

१. अंगार कर्म : जिस में अग्नि का उपयोग अधिक हो वैसा धंधा करना-जैसे कि इँटों का आँव पकाना, साबून-तेल के कारखाने.... दियासलाई-पटाखे बनाने के कारखाने, क्षार.... भस्म वगैरह बनाने का धंधा करना।

२. वनकर्म : जिस व्यापार में वनस्पति-हरियाली या पेड़पत्तों को काटने की प्रवृत्ति मुख्यतया होती हो। जैसे कि जंगल कटवाना... फलों के छिलके-गौंद बनाने के कारखाने.... कागज की मील चलाना... घास का चारागाह रखना वगैरह।

३. शकट कर्म : बैलगाडियां, तांगे, मोटर, कार, बस, टेक्सी, रिक्शा वगैरह बनाना एवं बेचना।

४. भाटक कर्म : वाहन एवं जानवरों को किराये पर देना एवं उसके किराये में से आजीविका चलाना/ गुजारा करना।

५. स्फोटक कर्म : पाताल या पत्थर तोड़ना... फोड़ना... तालाब खोदना... सुरंगे दागना, कुएं एवं जमीन खुदवाना... सुरंगें (Tunnels) बनवाना-वगैरह धंधा करना।

६. दंत-वाणिज्य : हाथीदांत (Ivory) का व्यापार करना... कस्तूरी... पशुपक्षी की चमडी एवं पंखों का धंधा करना।

७. लाक्षा-वाणिज्य : जिस में काफी जीवों की हत्या होती हो वैसे लाख एवं अन्य क्षारों का व्यापार करना। नील बनाना... साबुन, सब्जीखार बनाने का धंधा करना।

८. रस-वाणिज्य : शहद, मक्खन, घी-तेल एवं शराब वगैरह बनाना व बेचना ।

९. केश-वाणिज्य : आदमी के एवं पशुओं के बाल बेचने का धंधा करना, स्त्री-पुरुषों को बेचना। पशुओं को बेचना।

१०. विष-वाणिज्य : अलग अलग तरह के जहर एवं जहरीले पदार्थ व हिंसक शस्त्र बनाना और बेचना।

११. यंत्रपीलण-कर्म : तरह तरह के यंत्र, कल-कारखाने चलाना बेचना या किराये पर चलवाना।

१२. निर्लाछन-कर्म : पशु पक्षियों के अवयव काटना, बींधना, उन्हें बधिया करना।

१३. दव-दानव कर्म : शत्रुता या दुश्मनी से या धंधे के कारण जंगल में या घरों को आग लगाना, जलाना।

१४. जल-शोषण कर्म : तालाब, नदी, कुएं, नहर वगैरह खाली करवाना या उन्हें सुखाने का ठेका लेना।

१५. असतीपोषण-कर्म : जीवननिर्वाह के लिये वेश्यालय चलवाना... पशु-पक्षियों को रखकर उनके द्वारा खेल-तमाशे करना। मांस, अंड़े वगैरह का धंधा करना।

(४ शिक्षा-व्रत)

९. सामायिक-व्रत -

एक मुहूर्त (अड़तालीस ४८ मिनिट तक) मन-वचन-काया की तमाम पापप्रवृत्तियों का त्याग करके एक आसन पर बैठकर विधिपूर्वक स्वाध्याय, ध्यान, जाप, वगैरह करने की प्रतिज्ञा।

अतिचार -

१. मन से बुरे विचार करना, संकल्प-विकल्प करना।
२. वाणी से असत्य, अप्रिय या अयोग्य बोलना।
३. काया से अशुभ, अनुचित एवं अयुक्त प्रवृत्ति करना।
४. सामयिक लेकर भूल जाना।
५. अविधि से सामायिक लेना।

१०. देशावकाशिक व्रत -

पूर्व के आठों व्रत जीवनपर्यंत के हैं। पर उन व्रतो में रखी गई या ली हुई छूटछाट को एक दिन से लगाकर अधिक दिनों तक और ज्यादा नियंत्रित बनाना.... इसके लिये एक दिन में नियत संख्या के सामायिक कर के पापप्रवृत्ति से बचना।

अतिचार -

१. मर्यादित क्षेत्र के बाहर संदेश भेजकर या इशारे से कुछ भी मंगवाना।
२. आदमी भेजकर कुछ मंगवाना।
३. खंखार कर या वैसी किसी चेष्टा के द्वारा अपने मनोभावों को जतलाना।
४. इशारे से अपनी बात कहना/ ताक-झांक करना।
५. वस्तुएं-कंकर वगैरह फेंककर अपनी उपस्थिति मालुम करवाना।

११. पौषधोपवास व्रत -

जिस क्रिया से आत्मसाधना को वेग मिले.... पुष्टि मिले उसे कहते है पौषध! आत्मचिंतन में डूबकर, खाने पीने का त्याग, सांसारिक वृत्ति-प्रवृत्ति का त्याग करके १२ या २४ घंटों तक (दिनभर, रातभर या दिन-रातभर) या एक से ज्यादा दिनों तक प्रतिज्ञापूर्वक कुछ विशिष्ट साधनामय क्रियाएं करने का व्रत पालन करना। इसके चार प्रकार होते है : आहार-पौषध, शरीर,-सत्कार पौषध, ब्रह्मचर्य-पौषध, अव्यापार-पौषध।

अतिचार -

१. रहने के स्थान का, कपड़े-कमली-शाल वगैर का निरीक्षण नहीं करना या लापरवाही से करना।
२. वसती (रहने की जगह) कपडे वगैरह का प्रमार्जन बिल्कुल नहीं करना या जैसे तैसे कर लेना।
३. बाहर आने-जाने की जगह का भलीभांति निरीक्षण नहीं करना।
४. मल-मूत्र त्यागने की जगह का प्रमार्जन नहीं करना या बराबर ढंगसे नहीं करना।
५. विधि के मुताबिक पौषध नहीं लेना, देर से लेकर जल्दी पूरा करना। समय कम करना।

१२. अतिथिसंविभाग व्रत -

साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका को या फिर साधर्मिक भाई-बहनों को यथाशक्य आहार-पानी तथा जीवनयापन की साधन-सामग्री वगैरह प्रेमपूर्वक, आदर के साथ व निःस्वार्थ भाव से देने की प्रतिज्ञा करना।

अतिचार -

१. देने योग्य आहार-पानी वगैरह को सचित्त वस्तुओं से मिला देना (जिससे साधु-साध्वी ग्रहण न कर सके)
२. आहार वगैरह को सचित्त चीजों से ढंक देना।
३. 'यह वस्तुएं तो दूसरों की हैं' ऐसा कहकर देने को टाल देना। (यदि देने की इच्छा न हो तो)
४. भिक्षा का समय बीतने के पश्चात् बुलाने जाना।
५. इर्ष्या से, डाह से दान देना।

कोई भी व्यक्ति जीवनपर्यंत या नियत समय के लिये इन १२ व्रतों का स्वीकार कर सकता है। इन व्रतों के उपरांत

अन्य भी जैन सद्गृहस्थ के लिये दैनिकचर्या की साधनाएं हैं :

चौदह नियम -

गृहस्थजीवन को नियमित एवं धर्म से नियंत्रित रखने के बारे में जैन धर्म में कुछ-एक जो आचारसंहिताएं दर्शायी गयी हैं.... इन में चौदह नियम का विशिष्ट स्थान है। अपनी भोजन-पान तथा अन्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादा निश्चित करना चाहिए, जिससे जीवन अनुशासित होता है और उसमें दृढ़ता आती है। इनका पालन करना श्रावक के लिए अत्यंत आवश्यक है! यह रोजबरोज की प्रतिज्ञाएं होती हैं। हालाँकि इनके पालन के लिये पूरी सजगता अपेक्षित है।

१. सचित्त - जीवयुक्त सचित्त द्रव्यों के उपयोग करने में सीमा एवं संख्या निर्धारित करना।

२. द्रव्य - खाद्य पदार्थों की संख्या नियत करना।

३. विगई - (विकृति) दूध-दही-घी-तेल-गुड़-तली हुई चीजें, इन छह चीजों की संख्या निर्धारित करना।

४. वाणह - (उपानह) जूते-चप्पल वगैरह पहनने की संख्या निश्चित करना ।

५. तंबोल - पान, सुपारी आदि मुखवास की मर्यादा रखना।

६. वस्त्र - पहनने एवं ओढने-बिछाने के वस्त्रों की संख्या तय करना ।

७. पुष्प - फुल-मालाएं वगैरह के उपयोग की संख्या निर्धारित करना।

८. वाहन - वाहनों के प्रयोग की संख्या निश्चित करना।

९. शयन - पलंग, खटिया, वगैरह शय्या की संख्या तय करना।

१०. विलेपन - शरीर पर लगाने के पफ-पावड़र, अंगराग, परफ्यूम, स्प्रे, इत्र वगैरह की संख्या एवं मात्रा तय करना।

११. ब्रह्मचर्य - जातीय व्यवहार के बारे में नियम करना।

१२. दिशा - अमुक-अमुक दिशा में इतने-इतने मील से ज्यादा नहीं जाना वैसी सीमा निर्धारित करना।

१३. स्नान - स्नान वगैरह करने के बारे में नियम बनाना, इतनी बार स्नान करना या इतने पानी से स्नान करने की प्रतिज्ञा।

१४. भोजन-पानी - भोजन कितनी बार करना एवं पानी का कितना उपयोग करना, इसका नियमन करना।

६. आवश्यक

अवश्य करने योग्य क्रियाएं, आत्मविशुद्धि की आराधना जिसके द्वारा हो उसे 'आवश्यक' कहा जाता है।

सामायिक

पाप की वृत्ति-वाणी एवं प्रवृत्ति का परित्याग कर के निष्पाप एवं आत्मभाव की ओर जाने की प्रक्रिया यानी सामायिक! जिसके द्वारा समता-स्वस्थता एवं संतुलन मिले.... एकत्र हो उसका नाम है सामायिक।

शुद्ध-श्वेत वस्त्र पहनकर कटासना (गरम-ऊनी वस्त्र) का आसन बिछाकर हाथ में चरवला (ऊनी तंतुओंवाला एक साधन) एवं मुहपत्ति (३२ अंगुल का समचौरस, श्वेत कपडे का रुमाल सा समेटा हुआ टुकडा) हाथ में लेकर अड़तालीस मिनिट तक विधिसहित स्वस्थ होकर बैठना एवं जाप-ध्यान, स्वाध्याय, आत्मचिंतन वगैरह करना। इस क्रिया को सामायिक कहते हैं । दिन में कम से कम एक बार तो सामायिक करनी ही चाहिए।

चतुर्विंशति-स्तव

चौबीस तीर्थंकर भगवंतों का नामस्मरण/ दर्शन-वंदन/ पूजन-स्तवना/ कीर्तन/ उनके स्वरुप का ध्यान, उनकी भक्ति इत्यादि करनी चाहिए।

१) रोजाना सुबह मंदिर में जाकर परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन करने चाहिए। उनके समक्ष भक्तिपूर्ण स्वर में स्तुतिप्रार्थना करनी चाहिए। परमात्मा के चरणों में सुंदर पदार्थ समर्पित करने चाहिए।

२) हमेंशा प्रभुप्रतिमा का विधिसह पूजन करना चाहिए। अष्टप्रकारी पूजा करनी चाहिए, प्रभु की जल-चंदन-पुष्प-धूप-दीप-अक्षत-नैवैद्य-फल वगैरह से पूजा करनी चाहिए। प्रभु की अंगरचना करनी चाहिए। दस-त्रिक का पालन कर के पूजन करना चाहिए।

३) रोजाना शाम के समय मंदिर में जाकर परमात्मा के समक्ष आरती एवं मंगल-दीप उतारना चाहिए। आरती एवं मंगलदीप अपने अंतःकरण को परमात्म-मिलन के लिये आर्द्र बनाते हैं। आंतरिक अरति-अवसाद को दूर करते हैं।

वंदनक

पूज्य साधु-साध्वीजी वगैरह गुरुजनों को विनय से वंदना करना। उनका आदर-सत्कार करना। उनकी सुख-सुविधाओं का खयाल करना। उन्हें सहायक बनना। उनकी सेवा-सुश्रुषा करना। वस्त्रपात्र, आहार-पानी वगैरह के द्वारा उनकी भक्ति करना। उनसे विनयपूर्वक, ध्यान से धर्म का उपदेश सुनना चाहिए। जीवन-साधना के लिये समुचित मार्गदर्शन लेना चाहिए।

प्रतिक्रमण

दैनिक जीवन में होनेवाली गलतियाँ, भूलें एवं लगनेवाले दोषों का प्रायश्चित्त एवं दुष्कृत्यों का प्रत्यालोचन करना। बाहरी वृत्तियों में गुमराह बनी आत्मा को भीतर की ओर वापस लाना। सुबह के प्रतिक्रमण को रात्रिक प्रतिक्रमण एवं शाम के प्रतिक्रमण को दैवसिक प्रतिक्रमण कहा जाता है। सुबह शाम के उपरांत हर पखवाड़े की चतुर्दशी को पाक्षिक, हर चार महीने पर चातुर्मासिक एवं साल में एक बार संवत्सरी प्रतिक्रमण (भादरवा सुद ४ को) भी किया जाता है।

कायोत्सर्ग

शरीर को सुस्थिर कर के, एकाग्र मन होकर स्वस्थ होकर, मौन रहते हुए आत्मा का ध्यान करना। देहभाव से मुक्त होकर, शरीर की आसक्ति को छोडना... इसके लिये कायोत्सर्ग जरुरी है...। हर रोज कम से कम थोड़ा बहुत समय निकाल कर भी आत्मा के मूलरुप की ओर लक्ष्य केन्द्रित करके अपने आप में गहरे उतरना आवश्यक है... इसके उपरांत अनेक तरह की आंतरबाह्य आफतों के दौरान स्वस्थता एवं संतुलन बनाये रखने के लिये भी कुछ विशिष्ट कायोत्सर्ग बतलाये गये हैं।

प्रत्याख्यान

प्रतिज्ञापूर्वक कुछ त्याग करना। रोजबरोज की जिन्दगी में भी छोटी-बडी प्रतिज्ञा के द्वारा जीवन को अनुशासित करना। शरीर यदि नियंत्रित होगा तो मन भी वश में रह सकेगा। व्यक्ति की शक्ति, इच्छा व परिस्थिति के अनुसार प्रतिज्ञाएं ली जा सकती हैं। इसे 'पच्चक्खाण' करना भी कहा जाता है।

दयादान

दुःखी जीवों पर दया करना। जीवन-यापन की आवश्यकताएँ जिन के पास नहीं हैं, उन्हें यथाशक्य अपनी शक्ति एवं अनुकूलता के मुताबिक कुछ न कुछ सहायता देना। पशुओं को चारा वगैरह डालना। पक्षियों को अनाज डालना। पानी पिलाना। जीवदया यह तो धर्म की बुनियाद है। दया के बगैर किसी धर्म का क्या अस्तिव होगा? दयाविहीन हृदय की कठोर धरती पर धर्म के कोमल फूल कैसे खिल पायेंगे?

शास्त्रस्वाध्याय

प्रतिदिन अपनी सुविधा के मुताबिक समय निकालकर धर्मग्रंथों का अध्ययन करना, स्वाध्याय करना। धर्म की बातों पर चिंतन-मनन करना। जीवन को उदात्त एवं ऊर्जस्वी बनाये वैसी पुस्तकें पढ़ना। पुस्तक-ग्रंथ के स्वाध्याय के जरिये दर असल में स्व-अध्याय, स्वयं को समझने की यात्रा करनी है।

प्रार्थना

सुबह की प्रार्थना

हमेशा सबेरे उठने के साथ ही १०८ बार नवकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए। कम से कम १२ नवकार तो गिनना ही चाहिए। परमात्मा की स्तुति एवं उनके उपकारों का स्मरण एवं समग्र विश्वकल्याण की कामना के साथ निम्न प्रार्थना कर के दिन का प्रारंभ करना चाहिए।

शिवमस्तु सर्वजगतः
परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं
सर्वत्र सुखीभवतु लोकः।।

सकल विश्व का जय मंगल हो, ऐसी भावना बनी रहे,

अमित परहित करने को मन, सदैव तत्पर बना रहे।
सब जीवों के दोष दूर हो, पवित्र कामना उर उल्लसे,
सुख-शांति सब जीवों को हो, प्रसन्नता जन मन विलसे।

रात्रि की प्रार्थनाएं

रात्रि को रोजाना सोने से पहले नमस्कार महामंत्र का स्मरण तथा अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म का मंगल शरण अंगीकार करके, देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठा एवं सभी जीवों के साथ क्षमायाचना/ क्षमापना व्यक्त करने के पश्चात् ही सोना चाहिए। ताकि रात्रि शांति से गुजरे। मन हल्का प्रसन्न रहे, सपने भी सुंदर एवं अच्छे आयें, इसके लिये निम्न श्लोक याद कर लेने चाहिए।

चत्तारि मंगलं।	चार मंगलरुप हैं।
अरिहंता मंगलं।	अरिहंत मंगलरुप हैं।
सिद्धा मंगलं।	सिद्ध मंगलरुप हैं।
साहू मंगलं।	साधुपुरुष मंगलरुप हैं।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं।।	केवलिप्ररुपित धर्म मंगलरुप हैं।
चत्तारि लोगुत्तमा।	चार लोक में उत्तम हैं।
अरिहंता लोगुत्तमा।	अरिहंत लोक में उत्तम हैं।
सिद्धा लोगुत्तमा।	सिद्ध लोक में उत्तम हैं।
साहू लोगुत्तमा।	साधुपुरुष लोक में उत्तम हैं।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो।।	केवलिप्ररुपित धर्म लोक में उत्तम हैं।
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि।	मै चार शरण स्वीकार करता हूं।
अरिहंते सरणं पव्वज्जामि।	मैं अरिहंत की शरण स्वीकारता हूं।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि।	मैं सिद्धों की शरण स्वीकारता हूं।
साहू सरणं पव्वज्जामि।	मैं साधुपुरुषों की शरण स्वीकारता हूं।
केवलिपन्नतं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।	मैं केवलिप्ररुपित धर्म की शरण स्वीकारता हूं।
खामेमि सव्वजीवे,	सभी जीवों को मैं क्षमा देता हूं।
सव्वे जीवा खमंतु मे।	सभी जीव मुझे क्षमा प्रदान करें।
मित्ती मे सव्वभुएसु,	सभी जीवों के साथ मेरी मैत्री है।
वेरं मज्झं न केणई।।	किसी भी के साथ मेरा वैर नहीं है।
अरिहंतो मह देवो	जीवनपर्यंत अरिहंत मेरे देव हैं।
जावज्जीवं सुसाहूणो गुरुणो।	सुसाधु पुरुष मेरे गुरु हैं।
जिणपन्नत्तं तत्तं	जिनेश्वर कथित तत्वों में मेरी श्रद्धा है।
इय सम्मत्तं मए गहियं।	इस सम्यक्त्व का मैंने स्वीकार किया है।

जाप एवं ध्यान

हमेशा नवकार मंत्र के जाप के साथ साथ जीवन को विशुद्ध एवं पवित्र बनाने वाले विशिष्ट मंत्रो का जाप एवं नियमित रुप से अपने आत्म-स्वरुप का ध्यान करना चाहिए। आत्मध्यान जीवन को शांति एवं प्रसन्नता प्रदान करता है। चित्तस्थिरता का सही एवं वास्तविक रास्ता आत्मध्यान में से प्राप्त हो सकता है।

इन सब बातों को कमोबेशरुप में जीवन में यदि स्थान दिया जाये तब ही जाकर जैनत्व सार्थक हो पाता है। जैन परिवार में जन्म लेने मात्र से जैनत्व जीवंत नहीं हो सकता। जैनत्व को सार्थक करने के लिये जीवन-व्यवस्था को धर्ममय बनानी ही होगी।

अट्ठारह पापस्थानक

हमारी आत्मा को संकट में डालने वाले ये अट्ठारह पापस्थानक हैं :

१. प्राणातिपात - हिंसा करना।
२. मृषावाद - झूठ बोलना।
३. अदत्तादान - चोरी करना।
४. मैथुन - वासनाजन्य प्रवृत्ति करना। अब्रह्म का सेवन।
५. परिग्रह - वस्तु या संपत्ति में आसक्ति रखना।
६. क्रोध - गुस्सा करना।
७. मान - गर्व करना।
८. माया - कपट करना।
९. लोभ - लालची होना।
१०. राग - ममत्व से मूढ होना।
११. द्वेष - दुश्मनी की गांठ बांधना, कीनाकशी रखना।
१२. कलह - झगड़ा करना।
१३. अभ्याख्यान - गलत इल्जाम मढना।
१४. पैशुन्य - चुगली खाना।
१५. रति-अरति - जरा जरा सी बातों में खुश-नाराज हो जाना।
१६. परपरिवाद - दूसरों की निंदा करना।
१७. माया-मृषावाद - कपटपूर्वक झूठी बातें फैलाना।
१८. मिथ्यात्वशल्य - सच्चे तत्वों को जानना नहीं एवं मानना नहीं।

जैन सद्गृहस्थ के रुप में, कम से कम पापों की प्रवृत्तियों के पिंड़ारी दल जैसे इन अट्ठारह पापों के शिकंजे में से अपने आपको बचाना चाहिए। इन पापों के साथ में जीनेवाला व्यक्ति खुद अपने हाथों अपनी दुर्गति का वसीयतनामा (Will) लिख देता है।

उपधान

श्रावकजीवन की श्रेष्ठ साधना एवं उपासना यानी उपधान! ये उपधान ४७ दिन, ३५ दिन एवं २८ दिन यों तीन विभाग में किये जाते हैं। इन तमाम दिनों के दौरान एक दिन उपवास, दूसरे दिन नीवी (विशिष्ट नियमों के साथ का एकासन) या आयंबिल किया जाता है! रोजाना नवकार मंत्र की २० माला गिनना, १०० खमासमण देना, १०० लोगस्स का कायोत्सर्ग (लोगस्स सूत्र का १०० बार पाठ) पौषधव्रत वगैरह करने के होते हैं। साथ ही कुछ महत्त्वपूर्ण जैन सूत्रों का अध्ययन करना होता है.... यह तप कठिन एवं सुदीर्घ होता है।

प्रतिमा

श्रावक जीवन को ज्यादा विशुद्ध, विशुद्धतर करने के लिये प्रतिमा वहन (एक तरह की विशिष्ट नियंत्रित जीवनचर्या) भी किया जाता है। शास्त्रों में ११ श्रावक की प्रतिमाएँ कही गयी हैं - १ सम्यक्त्व २ व्रत ३ सामायिक ४ पौषध ५ नियम ६ ब्रह्मचर्य ७ सचित्त त्याग ८ उद्दिष्ट ९ प्रैष्यारंभत्याग १० आरंभत्याग ११ श्रमणभूत।

धर्म करने से पूर्व

व्यक्ति का जीवन कैसा होना चाहिए, इस के लिये जैन धर्म में काफी बारीक पर स्पष्ट एवं सुंदर मार्गदर्शन दिया गया है। व्यक्तिगत जीवन हो या परिवारिक जीवन हो... सामाजिक जीवन हो या राष्ट्रीय जीवन हो.... यदि धार्मिकता को जिन्दगी में उभारना है तो इसके लिये बुनियादी २१ बातें व्यक्ति में होना जरुरी है....। जब इन गुणों का विवरण पढते हैं तो लगता हैं जैनधर्म ने व्यक्ति के जीवन के हर पहलू को सजाने-संवारने की कोशिश की है। एकाध पहलू भी यदि सुनियोजित न हो तो जीवन बेढ़ंगा लगेगा। जैनधर्म में तो धर्म की योग्यता उन्हे ही प्राप्त है, जिनमें ये २१ गुण हैं.... कम से कम सात गुण तो अत्यंत जरुरी है ही।

१. गंभीर - छिछला एवं उथला व्यक्तित्व नहीं वरन् उदार, विशाल एवं गंभीर व्यक्तित्वयुक्त।
२. रुपवान् - स्वस्थ शरीर, परिपूर्ण अवयव, सप्रमाण देह से युक्त।
३. सौम्य प्रकृति - चिड़चिड़ा नहीं पर प्रसन्न, आनंदयुक्त चेहरा।
४. लोकप्रिय - जनसेवा में आदरणीय, लोगों में मान्य, जनप्रिय।
५. अक्रूर - कभी किसी के प्रति क्रूर न बनें, निर्दय न बनें।
६. भीरु - पापों से लोक-अपवाद से दूर रहनेवाला, सामाजिक बुराईयों से दूर रहनेवाला।
७. अशठ - सरल...निर्दंभी....भोलेपन से युक्त।
८. सुदाक्षिण्य - औरों का कार्य करनेवाला, उपयोगी बननेवाला।
९. लज्जालु - बड़ों और गुरुजनों की मर्यादा रखनेवाला।
१०. दयावान् - दया से युक्त, करुणा-प्रेमभरा व्यवहार रखनेवाला।
११. मध्यस्थ - पक्षपातरहित।
१२. गुणानुरागी - ...दूसरों के गुणों को चाहनेवाला, गुणीजनों के प्रति आदरवान।
१३. सत्कथक - अच्छी एवं आदर्शपूर्ण बातें कर के औरों का मन जीतनेवाला।
१४. सुपक्षयुक्त - सत्पुरुषों के प्रति श्रद्धावनत।
१५. सुदीर्घदृष्टि - भविष्य का विचार करके कदम उठानेवाला।
१६. विशेषज्ञ - वस्तु या घटना को अनेक दृष्टिकोण से जाँचने, परखनेवाला।
१७. वृद्धानुग - महापुरुष....ज्ञानी पुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट सन्मार्ग पर चलनेवाला।
१८. विनीत - विनय, नम्रता एवं मृदुता से युक्त।
१९. कृतज्ञ - उपकारी जनों के प्रति सदा अहोभाव एवं आदरयुक्त।
२०. परहितरत - दूसरों के हित एवं कल्याण में सहायक।
२१. लब्धलक्ष्य - निर्धारित जीवन-लक्ष्य के प्रति सदैव गतिशील।

मार्गानुसारी गुण

कुछ बातें, कुछ नियम एवं कुछ व्यवस्थाएँ सहजीवन या समाजजीवन के लिये नितांत आवश्यक होती हैं। अव्यवस्था अराजकता या अस्तव्यस्तता में बिखरा हुआ समाज सुदृढ एवं सक्षम नहीं रहता। यदि समाज सुदृढ नहीं है तो राष्ट्र भी कमजोर होगा ही। मार्गानुसारी जीवन के ३५ गुण, जैनधर्म की एक बहुत ही सूझबूझवाली जीवनव्यवस्था का परिचय देते हैं। ये सारे गुण, ये सारी मर्यादाएं व्यक्ति की धार्मिकता की बुनियाद है। नींव की ईंटें हैं! यह नींव जितनी मजबूत होती है, जीवन उतना ही व्यवस्थित एवं विकासशील बन सकता है!

१. न्यायोपार्जित धन - न्यायनीति एवं प्रामाणिकता, ईमानदारी से पैसे कमाना।
२. उचित विवाह - अपने कुल, अपनी जाति, संस्कार एवं धर्म के अनुकुल शादी करना।
३. शिष्ट प्रशंसा - सज्जन एवं संस्कारी व्यक्तियों को आदर देना।
४. शत्रुता त्याग - किसी भी के साथ दुश्मनी, मनमुटाव नहीं रखना।
५. इन्द्रियजय - इंद्रियों की वृत्ति एवं प्रवृत्ति पर काबू रखना।
६. अनिष्ट स्थानत्याग - जहाँ तन-मन की तंदुरस्ती बिगडे वैसे स्थान का त्याग करना।
७. उचित गृह - घर की पसंदगी में मर्यादा, कुल, संस्कार एवं धर्म का पालन हो वैसी सावधानी बरतना।
८. पापभय - पापों से शक्यतया बचने का प्रयत्न करना।
९. देशाचार पालन - समाज, राष्ट्र के उचित आचारों का पालन करना।
१०. लोकप्रियता - सभी के दिल में जगह बनाना, सभी का मन जीतना।
११. उचित व्यय - अपनी कमाई के अनुसार खर्च करना।
१२. उचित व्यवहार - समय एवं परिस्थिति को समझकर बरताव करना।
१३. माता-पिता का पूजन - उपकारी माता-पिता की पूरी सार-संभाल रखना, उनकी सेवा/ सुश्रुषा करना।
१४. सत्संग - सदाचारी/ संस्कारी व्यक्तियों का परिचय रखना।
१५. कृतज्ञता - उपकारी जनों के प्रति कभी भी द्वेष या दुष्टता धारण नहीं करना।
१६. अजीर्ण में भोजन त्याग - खाया हुआ भोजन यदि न पचे तो कुछ भी नही खाते हुए उपवास करना।

१७. उचित आहार	-	शरीर, तंदुरस्ती एवं प्रकृति को अनुकूल आहार करना ।
१८. ज्ञानी पूजा	-	ज्ञानी पुरुष/ विद्वान् व्यक्तियों की सेवाभक्ति एवं उपासना करना।
१९. निंदित कार्य-त्याग	-	समाज एवं धर्म की दृष्टि से निंदित कार्यो का त्याग करना।
२०. भरण-पोषण	-	अपने परिवार एवं आश्रितों का जतन पूर्वक भरणपोषण करना।
२१. दीर्घदर्शिता	-	क्रिया का नहीं पर परिणाम के समय का विचार कर के कदम उठाना।
२२. धर्मश्रवण	-	जीवन को स्वच्छ एवं स्वस्थ बनाये वैसी बातें सुनना ।
२३. दया	-	दुःखी जीवों पर, प्राणियों पर दया करना।
२४. बुद्धि	-	बुद्धि समृद्ध एवं पैनी हो इसके लिये आठ बातों का पालन करना।
२५. गुणपक्षपात	-	गुणों के प्रति हमेंशा अपनत्व रखना, दोषों से बचे रहना।
२६. दुराग्रहत्याग	-	'मेरा वह सच' यह नहीं पर 'जो सच वह मेरा' ऐसी समझ रखना।
२७. ज्ञानार्जन	-	प्रति दिन नया-नया ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करना।
२८. सेवा-भक्ति	-	उपकारी एवं महापुरुषों की सेवा करना।
२९. त्रिवर्ग-साधना	-	धर्म-अर्थ एवं काम का यथायोग्य पालन करना।
३०. देश काल का ज्ञान	-	समय/ संजोग एवं भावि का विचार करना।
३१. बलाबलविचार	-	हर किसी बात में कूदने से पूर्व अपनी क्षमता का अंदाज लगाना।
३२. लोक-यात्रा	-	समाज की तंदुरूस्ती/ उन्नति में सहयोगी बनना।
३३. परोपकारप्रवीणता	-	दीन दुःखी, गरीब एवं दुर्बल लोगों के प्रति उदार एवं सहयोगी बनना।
३४. लज्जा	-	बडे....गुरुजन, शिष्ट पुरुष एवं गुणीजनों की मर्यादा का पालन करना।
३५. सौम्यता	-	सदा प्रसन्न, हँसमुख.... रहना, स्वभाव को मृदु-मधुर बनाना।

ये सारी बातें मानवता को विकसित करने के लिये भी जरुरी हैं....। धार्मिकता के मुख्य मार्ग पर ले जाने वाली इस पगडंडी पर चलना ही होगा। इन बातों की उपेक्षा या इन गुणों को नजर-अंदाज करने से फिर धर्म मात्र शब्दों में और बातों में अटक जायेगा। जीवन में स्पंदित नहीं होगा!

तप एवं आचारसंहिता

जीवन जीने के लिये आहार अनिवार्य माना गया है। आहार आवश्यक समझा गया है। आहार का प्रभाव निश्चित रुप से शरीर एवं मन पर गिरता है। "जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन".... या फिर "जैसा आहार वैसी डकार" वाली बातें बिल्कुल सही हैं.... तथ्यात्मक है। आत्मसाधना के लिये शरीर सहायक बनता है, शरीर को चुस्त एवं दुरुस्त रखने के लिये ज्ञानी पुरुषों ने आहार की मात्रा, उसका समय, एवं उसके वैविध्य के बारे में काफी सुन्दर विश्लेषण किया है। कर्मक्षय के लिये तप का मार्ग बतलाया वैसे ही अमुक तरह के खानपान का निषेध भी उन्होंने किया। बिल्कुल नहीं खाना जैसे तप है.... वैसे ही 'यह खाना/ यह नहीं खाना....' यह भी एक तरह की तपश्चर्या है!

तप के १२ प्रकार बतलाये गये हैं.... उसमें ६ प्रकार का बाह्य तप है एवं ६ प्रकार का आभ्यंतर तप है।

*** बाह्य यानी स्पष्ट निगाहों से दिखने वाला।**

*** आभ्यंतर यानी बाहरी निगाहों से न भी दिखे!**

बाह्य-तप : (६ प्रकार)

१. अनशन - एक दिन या एक से अधिक दिनों के लिए या फिर जीवनपर्यंत आहार-पानी वगैरह का संपूर्णतया त्याग करना। उपवास नामक तप अनशन की प्रारंभिक श्रेणी में समाविष्ट है! विशेष कर मृत्यु को मंगलमय बनाने के लिये अंतिम दिनों में या अंतिम क्षणों में अनशन का प्रचलन विशेष है।

२. ऊनोदरी - जितनी भूख हो, खाने पर बैठते वक्त जितनी खाने की इच्छा हो.... उससे कुछ कम खाना-कम पीना, उसे 'ऊनोदरी' कहते है! ऊन=खाली+उदर=पेट। पेट को कुछ खाली रखना। सामान्यतया स्वस्थ शरीर के लिये दिन भर में २५०० 'केलरीज' का भोजन पर्याप्त माना जाता है। जैन धर्म इसके लिये ३२ कौर के भोजन का निर्देश करता है।

३. वृत्ति संक्षेप - कम से कम साधन-सुविधाओं में गुजारा करना। अपनी वृत्तियों को-आवश्यकताओं को कम करना। उस पर नियंत्रण रखना। भोजन करते समय अमुक पदार्थों का त्याग करना। थाली में जितने खाद्य पदार्थ हों उनमें से कुछ का त्याग करके अलग कर देना, नहीं खाना वगैरह।

४. रसत्याग - यह काफी महत्वपूर्ण एवं वैज्ञानिक तप व्यवस्था है। विकारों को भड़काये.... वासनाजन्य आवेगों को

बहकाये वैसी खाने पीने की चीजों का त्याग करना। ६ विगई में से किसी एकाध या एक से ज्यादा विगईयों का त्याग करना। कभी घी नहीं खाना, कभी तेल, गुड़ या दूध का त्याग कर देना। इसे दो ढंग से किया जाता है : एक तो मूलरुप से विगई का त्याग करना, जैसे कि दूध का त्याग किया तो उसकी कोई भी चीज नहीं लेना.... जिसमें दूध आता हो, जो दूध से बनतें हो वैसे पदार्थो का त्याग करना। और यदि कच्ची विगई का त्याग है तो केवल उसे ग्रहण नहीं करना। दूध नहीं ले सकते पर दूध की बनी हुई चीज ले सकते है। इसी तरह अन्य विगईयों के बारे में समझने का।

वैसे भी गरिष्ठ पदार्थ एवं अधिक शर्करावाले पदार्थों का असर स्वास्थ पर पड़ता है एवं धीरे धीरे मन के विचारों पर आचरण पर भी होता है.... विगई के भोजन के लिये जैन धर्म तो निषेध भी करता है.... चूंकि इनका असर मन पर तीव्रता से होता है....। कुछ अरसा पहले अमरीका के तीन शहर लूई, ओहियो एवं अहोगाफॉल्स के असामाजिक तत्वों के भोजन द्रव्यों की छानबीन की गयी तो पाया गया कि वे अधिकतर हाईपर ग्लाईसिमीया (खून में शर्करा) के रोग से ग्रस्त थे। जिसके कारण उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन, गुस्सा, शंकाशील मानस, यौन-अपराध, चोरी-डकैती, मारपीट एवं कानून के उल्लंघन की प्रवृत्तियाँ ज्यादा होती थी। यदि ऐसे लोगों के खाने-पीने में से तली हुई चीजें, मीठी वस्तुएं एवं स्टार्चवाले पदार्थ घटाये जाय तो काफी परिवर्तन शक्य है! खाने-पीने का असर मन पर पड़ता है यह निर्विवाद बात है। यदि हम सर्वथा न छोड़ सके तों उन पर नियंत्रण तो रखना ही चाहिए। इसलिये आयंबिल-नीवी जैसे तप बतलाये गये हैं।

५. कायक्लेश - स्वेच्छया शरीर को अलग अलग कष्ट एवं तकलीफें उठाने के लिये सक्षम बनाना। शारीरिक कष्टों में भी मन की स्वस्थता टिकाये रखना।

६. संलीनता - मन की वृत्तियों एवं शरीर की प्रवृत्तियों को अशुभ कर्म में जाने से रोककर शुभ में पलटाना, स्थिर करना। एकांत जगह में स्वस्थ होकर विशिष्ट आसनों में स्थिर बनकर ध्यान एवं जाप में लीन होना।

आभ्यंतर तप : (६ प्रकार)

मन के साथ मुख्यतया संबंधित होने से इसे आभ्यंतर तप कहा जाता है।

१. प्रायश्चित - स्वयं जीवन मे जाने-अनजाने में हुई गलतियां, लगे हुए पाप एवं दोषों को गुरुजनों के समक्ष प्रगट कर के प्रायश्चित मांगना। मिले हुए प्रायश्चित को पूरा करना। भविष्य में वैसी गलतियों से, पापों से बचे रहने का संकल्प करना, प्रतिज्ञा करना। जरा सी भी गलती हो जाये तो उसे मिच्छामि दुक्कडं कहकर प्रायश्चित किया जाता है।

२. विनय - गुरुजनों का एवं बड़ों का विनय करना। उन्हें आसन वगैरह देना। वे आयें तब खड़ा होना। उनके साथ सभ्यता से पेश आना। धर्म एवं धर्माचार्य की आशातना से बचना।

३. वैयावच्च - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, गुणी, साधुपुरुष एवं सहधार्मिकों की सेवा-भक्ति करना.... रुग्ण एवं अशक्तों की सेवा-सुश्रुषा करना.... यह गुण (तप के रुप में) काफी महान एवं महत्वपूर्ण है। स्वयं तीर्थंकर भी इस तप को अहमियत देते हैं। "जो गिलाणं पडिवज्जइ सो मां पडिवज्जइ" अर्थात् 'जो ग्लान-बीमार की सेवा करते हैं वे मेरी (तीर्थंकर की) साक्षात् सेवा करते हैं'। ऐसा शास्त्रों में कहा गया है।

४. व्युत्सर्ग - शारीरिक प्रवृत्तियां एवं कार्य-कलाप का त्याग कर के, स्थिर बनकर, यथाशक्य समय तक परमात्मा के ध्यान में डूब जाना। अमुक नियत श्वासोश्वास के साथ चौबीस तीर्थंकरों का ध्यान करना। इस तप को कायोत्सर्ग ध्यान भी कहा गया है। काया की माया छोडकर आत्मा को सम्हालना।

५. स्वाध्याय - स्व यानी आत्मजागृति में सहायक हो, जगत के जंजाल में आत्मा खो न जाय....वैसी प्रेरणा देने वाले ग्रंथों/ पुस्तकों का पठन-पाठन करना....मनन एवं चिंतन वगैरह करना।

६. ध्यान - मन की तमाम वृत्तिओं को आत्मा एवं परमात्मा के रुप-स्वरुप के चिंतन में लीन-तल्लीन रखना।

इसके उपरांत अन्य दैनिक एवं कुछ विशिष्ट तपश्चर्याएं भी जैन समाज में प्रचलित हैं.... एक नजर उन पर भी डाली जाये :

रोज-बरोज की छोटी बडी तपश्चर्याएं

तप यानी जो तपाये.... शरीर को गलाये.... इंद्रियों को पिघाले.... पापों को जलाये.... वासनाओं को बिखेरे.... मन को तंदुरस्त बनाये.... उसे तपश्चर्या कहते हैं।

जैन धर्म तो वैसे भी त्यागप्रधान धर्म रहा है। शरीर से भी ज्यादा मन के विकास पर, आत्मा के विकास पर इसने वजन दिया है। तपश्चर्या करने से हालाँकि, शरीर थोडा कृश होता है, कमजोरी भी आती है.... शरीर सूखता भी है, पर मन ताजगी महसूसता है....। आत्मा का सौन्दर्य निखरने लगता है.... इसीलिये जैन धर्म ने तपश्चर्या के अनेक प्रकार दर्शाये हैं....ताकि हर व्यक्ति अपनी क्षमता..../ स्वस्थता एवं इच्छा के मुताबिक उसका आचरण कर सके।

- ❖ **नवकारशी** - सूर्योदय के पश्चात ४८ मिनट बीतने के बाद ही ३ नवकार गिनकर भोजन या पानी ग्रहण करना। दातुन भी बाद में ही करना।
- ❖ **पोरसी** - सूर्योदय के बाद ३ घंटे बीतने पर ही भोजन या पानी लेना।
- ❖ **साढपोरसी** - सूर्योदय के पश्चात ४ घंटे ३० मिनट बीतने के बाद ही भोजन-पानी वगैरह लेना।
- ❖ **पुरिमुड्ढ** - सूर्योदय के पश्चात ६ घंटे के बाद आहार व पानी लेना।
- ❖ **अवड्ढ** - सूर्योदय के बाद ८ घंटे के पश्चात भोजन या पानी लेना।
- ❖ **बियासना** - दिन में दो बार ही भोजन करने का। भोजन करते समय एक ही जगह पर, एक ही आसन में (पालथी मारकर) बैठकर भोजन करने का।
- ❖ **एकासन** - एक ही बार भोजन करना। भोजन करते वक्त एक ही जगह पर, एक ही आसन पर बैठकर खाना। [बियासना एवं एकासन में सचित वस्तुओं का प्रयोग नहीं होता।]
- ❖ **आयंबिल** - रुखा सूखा, मसाले बगैर का, उबाला हुआ... या उबालकर पकाया हुआ खाना एक ही जगह बैठकर, एक ही बार खाना। इस में दूध-दही-घी-तेल या हरी सब्जी का प्रयोग नहीं किया जाता।
- ❖ **उपवास** - दिनभर एवं रात के दौरान कुछ भी खाना-पीना नही....केवल ऊबाला हुआ गरम पानी भी दिन के अमुक निश्चित समय के दौरान (बहुधा १० बजे से लेकर ६ बजे तक) यदि पीना हो तो एक जगह पर बैठकर पिया जा सकता है। इसे तिविहार उपवास कहते है, जबकि जिस में पानी भी नहीं पिया जाय उसे चौविहार उपवास कहा जाता है।

उपवास क्यों जरुरी है?

हालाँकि उपवास करने से, भूखा रहने से शरीर में कमजोरी महसूस होती है पर वह भोजन के अभाव की न होकर शरीर में इकट्ठे हुए मल का जो नाश होता है, उसकी है। शरीर की शुद्धि होने के पश्चात वापस शरीर में ताकत आने लगती है.... ताजगी महसूस होने लगती है। यह कोई चमत्कार नहीं है। पर शरीर में रहे हुए विजातीय द्रव्य निकल जाने से स्वास्थ्य का सहज प्रादुर्भाव होता है।

सामान्यतया शरीर में स्वाभाविक रुप से ज्वलन क्रिया होती ही रहती है.... इससे शरीर अमुक तापमान तक उष्ण रहता है। जैन धर्म की परिभाषा में इसे तैजस शरीर या तैजस नामकर्म की संज्ञा दी जा सकती है। इस ज्वलनक्रिया को चालू रखने के लिये ईंधन की आवश्यकता तो रहती ही है....। अधिकांश ईंधन भोजन के 'कार्बोहाइड्रेट्स' एवं चर्बी से मिल जाता है.... पर उपवास के दौरान भोजन की उर्जा मिलनी बंद होने से शरीर में संग्रहित भोजन आकर इस अग्नि में जलता है....। इसीलिये उपवास में चर्बी बहुत जल्द कम हो जाता हैं, चर्बी की तरह जिगर तिल्ली एवं मांसपेशियां भी कम होती हैं, पर मस्तिष्क बिल्कुल कम नहीं होता या उसे तनिक भी नुकसान नहीं होता है अतः नींद पूरी आती है.... विचार स्वच्छ एवं स्वस्थ रहते हैं। शुरु-शुरु के दिनों में भीतर एकत्र हुआ कचरा, जीभ पर मेल जमना.... थूंक आना, मितली आना, वगैरह के रुप में बाहर आता है पर धीरे धीरे सब व्यवस्थित जम जाता है।

बुखार, चेचक, दमा, रक्तचाप, बवासीर, एक्झिमा जैसे रोगों में उपवास लाभदायी है... अमरीका की 'एडवर्ड डेबी' नामक डॉक्टर ने अपने बच्चे का 'डिफ्थेरिया' जैसा घातक रोग भी उपवास के द्वारा मिटाया है। इसी डॉक्टर ने अपनी पुस्तक The Non breakfast Plane and Fasting Cure में लिखा है कि बीमारी के दौरान जबरदस्ती खाना या दवाईयां लेने की बजाय उपवास करना ज्यादा अच्छा है। ताकि स्वास्थ्य जल्दी मिल सके ।

शाम के पच्चक्खाण

पाणहार - यह पच्चक्खाण उपवास, आयंबिल, एकासन, बियासन वगैरह तपश्चर्या में रात्रि को किया जाता है।

चौविहार - सूर्यास्त के बाद रात को कुछ भी खाना-पीना नहीं, पानी भी नहीं पीने की प्रतिज्ञा करना।

तिविहार - सूर्यास्त होने के पश्चात रात को केवल पानी पीने के अलावा कुछ भी नहीं खाना-पीना, वैसी प्रतिज्ञा करना। पानी भी बारह बजे तक ही पीने का।

कुछ विशिष्ट एवं महान तपश्चर्याएं

अट्ठम - तीन दिन एवं रात तक लगातर उपवास करके परमात्मा का जाप, ध्यान वगैरह साधना करना। यह तपश्चर्या अत्यंत मांगलिक एवं प्रभावपूर्ण मानी जाती हैं....। बहुधा इस तपश्चर्या के साथ साथ परमात्मा पार्श्वनाथ की विशिष्ट जाप साधना की जाती है। इस तप के साथ नागकेतु एवं श्रीकृष्ण वगैरह का कथानक जुड़ा हुआ है।

अट्ठाई - लगातार आठ दिन तक उपवास करना एवं उन दिनों के दौरान जाप, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय, परमात्म-भक्ति

करना। एवं आत्माभिमुख बनकर रहना। हर बरस चातुर्मास के दौरान भाद्रपद महीने में पर्युषण पर्व के दिनों में सैकडों/ हजारों भावुक लोग यह तपश्चर्या करते हैं।

मासक्षमण - एक महीने तक लगातर उपवास करना। यह तपश्चर्या काफी कठिन एवं महान मानी गई है। एक महीने तक भोजन के बगैर रहना कोई खेल-तमाशा नहीं। फिर भी कई लोग चातुर्मास के दौरान यह तप करते हैं । कुछ लोग १०/ १२/ १५ दिन के उपवास भी करते हैं तो कुछ महीने से भी ज्यादा (कोई-कोई तो २/ ३ महीनों तक) दिनों के उपवास भी करते हैं।

वर्धमान तप - प्रारंभ में एक दिन आयंबिल फिर १ दिन उपवास, फिर दो दिन आयंबिल एवं तीसरे दिन उपवास.... यों क्रमशः आगे बढते हुए ५ दिन आयंबिल एवं ६ ठे दिन उपवास यों कुल बीस दिन की तपश्चर्या करके "वर्धमान तप का पाया" (नींव) डाला जाता है.... इसके बाद अपनी सुविधा एवं शक्ति के मुताबिक ६ आयंबिल एवं ७ वें दिन उपवास.... यों १०० दिन आयंबिल एवं एक सो एकवाँ उपवास करके यह तप पूर्ण किया जाता है। वैसे १०० से उपर या वापस दूसरी बार १ से १०० तक वर्धमान तप करने वाले आज भी विद्यमान है। वर्धमान तप के अनुष्ठान को ओली भी कहा जाता है। इसमें रोजाना क्रमशः आगे बढने का होता है अतः इसे वर्धमान तप कहा गया है चूंकि वर्धमान यानी बढता हुआ! इस तप के साथ चंद्रर्षि केवली एवं साध्वी कृष्णा का कथानक जुड़ा हुआ है।

नवपद ओली - प्रतिवर्ष आसो महीने में शुक्ल पक्ष के नौ दिन (७ से पूर्णिमा तक) एवं चैत्र महिने में शुक्ल पक्ष के नौ दिन (७ से पूर्णिमा तक) तक "अरिहंत" वगैरह नौ पदों की आराधना विशिष्ट जाप-ध्यान-भक्ति एवं अन्य विधि के साथ करते हुए आयंबिल का तप कर के यह अनुष्ठान किया जाता हैं। लगातार नौ बार इस तरह नौ नौ दिन (कुल ८१ दिन) आयंबिल कर के यह तप पूरा किया जाता है। इस तप के साथ श्रीपाल-मयणासुंदरी का कथानक जुड़ा हुआ है।

वरसीतप - चैत्र कृष्ण अष्टमी से लेकर अगले बरस के बैशाख सुद ३ (अक्षयतृतीया) तक एक दिन उपवास, एक दिन बियासना इस तरह यह तप किया जाता है। कभी कभी इस के बीच दो-दो उपवास भी लगातर करने पड़ते हैं । पूरे वर्ष तक यह तपश्चर्या चलने से इसे वरसीतप कहा जाता है....। अक्षयतृतीया के दिन इस तप का पारणा गन्ने का रस पीकर किया जाता है । सुप्रसिद्ध जैनतीर्थ पालीताना में इस दिन बहुत भारी मेला लगता है.... एवं समूह पारणे का आयोजन किया जाता है। इस तप के साथ प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव एवं उनके प्रपौत्र श्रेयांसकुमार का कथानक जुड़ा हुआ है।

वीसस्थानक तप - यह तप उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली है। इसमें बीस-स्थानों (महत्वपूर्ण आराधना करने के लिए नियत २० पद) की आराधना बीस-बीस (अलग-अलग) उपवास करके की जाती है....। बीच में एक पद की आराधना के लिये २० बेले (छट्ठ-एक साथ दो उपवास) भी करने पड़ते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर की आत्मा इस तप का आराधन उच्चकोटी की साधना एवं त्याग के साथ करती है। इसके अलावा भी अन्य सौ जितनी छोटी-बडी तपश्चर्याएं जैन ग्रंथों में निर्देशित हैं। कई तप आज भी जैन समाज में प्रचलित एवं प्रतिष्ठित है। हर एक तप के साथ साथ देववंदन, जाप, ध्यान, कायोत्सर्ग एवं उपासना के अलग अलग ढंग जुडे हुए होने से व्यक्ति अपनी अनुकूलता एवं क्षमता के मुताबिक कोई भी तप कर सकता है.... अलबत्ता, गुरुजनों का मार्गदर्शन तो अपेक्षित रहेगा ही।

पानी ऊबाला हुआ ही क्यों?

जैनों की कोई भी तपश्चर्या (बियासना एवं उससे ज्यादा) हो, पानी तो हर एक में ऊबाला हुआ ही पिया जाता है....। ऊंगली जल जाय इतना उबाल कर फिर पानी को ठंड़ा किया जाता है.... बाद में उसे पीने के काम में लिया जाता है। वह भी सूर्य अस्त हो जाय इससे पूर्व ही! बाद में नही! रात को तो पानी भी नहीं ले सकते! हालाँकि एक बार जब पानी को गरम करते है तो उसमें रहे हुए असंख्य जीव मरेंगें ही! पर एक बार गरम कर लेने से अमुक नियत समय तक उस पानी में नये जीव पैदा नहीं होंगे और नहीं मरेंगे! यदि पानी को गरम न किया जाये तो जैन तत्वज्ञान के अनुसार पानी में प्रतिपल असंख्य जीव पैदा होते हैं एवं मरते हैं। अतः पानी को उबालने से एक बार जीवहिंसा का पाप जरुर लगेगा, पर बार बार की हिंसा के पाप से बचा जा सकेगा। जरा सा नुकसान कर के भी यदि ज्यादा लाभ होता हो तो बुद्धिशाली व्यक्ति उस नुकसान को उठा लेगा। हालाँकि हिंसा से बचना ही चाहिए.... पर जब पानी के बगैर चलता ही नहीं है.... तब शक्यतया पापों से बचकर पानी का उपयोग करना चाहिए। गरम पानी का उपयोग भी जरुरी हो उतना ही करना चाहिए.... अनाप-शनाप उपयोग योग्य नहीं है। आजकल प्रख्यात शरीरशास्त्री एवं अच्छे अच्छे डॉक्टर भी पानी को गरम करके पीने का मशविरा देते हैं....। यह पानी स्वास्थ्य के लिये भी समुचित एवं आरोग्यप्रद होता है। चीन देश में तो आज भी वहां की बड़ी बड़ी होटलों में पीने के पानी को गरम करके ठंड़ा किया हुआ ही रखा जाता है।

पानी को छानना जरुरी है!

प्रत्येक जैन परिवार में ज्यादातर पानी को छानकर (मोटे कपडे के टुकडे से) ही पीने या नहाने-धोने के लिए काम में लिया जाता है। चूंकि, पानी में असंख्य जीव होते हैं.... और फिर खुले रहने वाले बरतनों में उडते हुए जन्तु भी गिरते रहते हैं। इन जीव-जन्तुओं की दया का विचार करे तो भी जरुरी हो जाता है पानी को छानना। ऐसा करने से कई जीव बच जाते है.... और आरोग्य के लिए भी छाना हुआ पानी अच्छा ही नहीं वरन् जरुरी भी है। एवं नहाने-धोने के उपयोग में लिए जाने वाले पानी के बरतनों को भी ढंक कर रखना चाहिए, ताकि जीव-जंतु उसमें न गिरे! कई बार तो जहरीले जंतु भी पानी में गिर जाते हैं....या उनकी लार, थूंक वगैरह गिर जाता है, जो कि स्वास्थ्य के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

जैनधर्म में इतना खाना निषिद्ध है!

जैन धर्म ने जीवन के चरम एवं परम लक्ष्य के रुप में आत्मा को कर्मों के तमाम बंधनों से मुक्त करने की प्रक्रिया को अपनाया है। कर्मो के कुटिल एवं जटिल बंधनों को तोडने के लिए केवल एक मानवजाति ही सक्षम एवं पूरी तरह से समर्थ हो सकती है। अन्य किसी भी जीवन में यह प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाती। मुक्त होने की प्रक्रिया में शरीर का सहयोग काफी अहमियत रखता है....। इसके लिये शरीर की सार सम्हाल भी जरुरी होती है। फिर भी एक बात नहीं भूलना चाहिए कि जिस तरह यह अपना शरीर भूख-प्यास एवं कष्टों से बिसूर कर सूखाने के लिए नहीं है उसी तरह, तरह तरह के पदार्थ खिला-पिला कर मोटा ताजा रखने के लिए भी नहीं है। इन्द्रियाँ एवं मन स्वच्छ रहे, स्वस्थ रहे.... वासनाओं एवं विकारों पर काबू रह सके, इस ढंग की आहार-व्यवस्था अपनानी चाहिए। ताकि शांत एवं पवित्र मनोभावों के जरिये आत्मध्यान, स्थिरता, प्रसन्नता के साथ आत्मा को जाना जा सके। आत्मा की अनुभूति में डूबा जा सके।

कुछ त्याज्य पदार्थों का जायजा लें :-

मांसाहार - किसी भी प्राणी का, किसी भी प्रकार का।

शराब - किसी भी तरह का, बियर भी।

अंडे - शाकाहारी कहे जाते अंडें भी।

जमीनकंद - आलू, प्याज, लहसून, गाजर, मूली, अदरक, शक्करकंद, रतालु, सूरण वगैरह कंदमूल में गिने जानेवाले पदार्थ।

बैंगन, चीज, पनीर, शहद एवं मक्खन -

द्विदल का भोजन - (कच्चे दूध एवं दही के साथ दलहन का अनाज [गेहूँ, चना, मूंग, ऊड़द, चौला वगैरह का शाक दाल, इत्यादि] मिलाकर विरुद्ध आहार करना)

बासी भोजन - रातभर रखे हुए भोजन को दूसरे दिन खाना।

ये सारे पदार्थ धार्मिक दृष्टिकोण से सोचा जाय तो अनेक तरह के सूक्ष्म कीटाणुओं की हिंसा के कारण त्याज्य एवं खाना अनुपयुक्त है ही....पर शरीरशास्त्र एवं आरोग्यशास्त्र के दृष्टिबिंदु से ये सारे पदार्थ व्यक्ति की तामसवृत्ति को उत्तेजित करते हैं.... विकार, वासना एवं एन्द्रिक आवेग को उभारते हैं.... दबी हुई.... वृत्तिओं की आग को ईन्धन देते हैं....व्यक्ति का मन ज्यादा चंचल ज्यादा उत्तेजित होता रहता है.... कोमलता, मृदुता, करुणा, स्वस्थता एवं संतुलन जैसे भाव सूख जाते हैं। खाद्यपदार्थो के उपयोग के पीछे शरीर की पुष्टता एवं तन्दुरस्ती से भी ज्यादा महत्व मन की स्वस्थता एवं मन की साहजिक ताजगी-तंदुरस्ती का है।

'मांसाहार' क्यों नहीं?

प्रत्येक धर्म ने मूलभूत सिद्धांत के रुप में मांसाहार की स्पष्ट मनाही की है। धार्मिक दृष्टिकोण को यदि गौण करें तो भी न तो शरीरशास्त्र के अंदाज से मांसाहार हितकारी है, न ही आरोग्य की दृष्टि से मांसाहार उपयुक्त बन सकता है। मानवशास्त्री (Anthropologists) कहते हैं....कि

१. कारनीवॉर (Carnivora) मांसाहारी प्राणी एवं

२. हरबीवॉर (Herbivorous) शाकाहारी प्राणी

इन दोनों की शरीररचना में बहुत भिन्नता है....। आदमी की, मनुष्य की शरीर रचना 'हरबीवॉर' जैसी है। मांसाहार इसके लिये नुकसानकारक ही होता है।

शाकाहार में तंतुमय पदार्थ ज्यादा होते हैं....जिससे भोजन का पाचन होकर पेट साफ होने में मदद मिलती है....। मांसाहार में तंतुमय पदार्थों की कमी होने से पेट की कई तरह की बीमारियां उपरांत बडी आंत का केन्सर होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता।

जिन पशुओं को मार कर आहार बनाया जाता है, उन्हें हार्मोन्स, एन्टीबोडीज वगैरह अन्य कीटाणुनाशक दवाईयां

जरुर दी जाती है....। मांसाहार करनेवालों के शरीर में ये सारे जहरीले पदार्थ प्रवेश कर जाते हैं। गाय वगैरह जानवरों को हृष्ट-पुष्ट करने के लिए B.E.S. नामक दवाई दी जाती है.... यदि वह पदार्थ मांसाहार में चला जाये तो केन्सर होने की पूरी संभावना है। पच्चीस साल पहले जिन स्त्रियों को B.E.S. की दवाईयां दी गयी थी आज भी उनमें एवं उनकी लडकियों में केन्सर की मात्रा बढ़ती हुई दिखाई दे रही है।

वैसे भी सभी प्राणियों के शरीर में कम ज्यादा रुप में जहरीले पदार्थ तो होते ही हैं। जो कि मल-मूत्र के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं.... पर मरे हुए जानवरों के शरीर में इन पदार्थों के रहने की पूरी संभावना बनी रहती है.... चूंकि हृदय की क्रिया बंद होते ही सभी अवयव निष्क्रिय हो जाते हैं। इस मांस का जो भी प्रयोग करते हैं वे एक या अन्य रुप में इस जहर का शिकार होंगे ही।

प्राणियों की चरबी में एवं खून में 'कोलेस्टरोल' की मात्रा अधिक होती है...उससे आँतो का रोग, स्त्रियों में स्तन एवं गर्भाशय के रोग तथा हृदयविकार होने की पूरी शक्यता है। प्राणी के शरीर में प्रोटीन एवं फॉस्फॉरस का प्रमाण ज्यादा होने से जब वह मनुष्य के शरीर में जाता है तब मनुष्य के 'केलशियम' के साथ उसका संतुलन बिगड़ता है।

मांसाहारी लोगों का पेशाब Urine बहुधा तेजाबयुक्त होता है, इसलिये शरीर में खून, पेशाब एवं क्षार का अनुपात बनाये रखने के लिये हड्डियों में रहा क्षार या नमक खून में जाता है....इससे हड्डियाँ कमजोर होती हैं....। इसके विपरीत शाकाहारी का पेशाब क्षारयुक्त होता है.... हड्डियों का क्षार खून में नहीं मिलता, अतः उनकी हड्डियाँ मजबूत रहती हैं।

हावर्ड मेडिकल स्कूल की सन १९६८ की रिपोर्ट (पैज ४५८) के अनुसार मांसाहार पाचनसंस्थान को खराब कर देता है.... चूंकि मुँह की लार (Saliva) की प्रतिक्रिया को क्षार अम्लता में बदल डालता है, इससे लार अपना काम नहीं कर पाती।

इधर आर्थिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो -

एक बकरा जब सात पौंड अनाज खाता है तब उसका एक पौंड मांस तैयार होता है.... दूध एवं अन्न पर गुजारा करने वाले क़रीबन १०० व्यक्तियों (२० परिवार) के लिये जितनी फलद्रुप-उपजाऊ जमीन एवं पानी वगैरह जरुरी होते हैं.... उन पर यदि मांस देने वाले प्राणियों का पालन किया जाय तो मात्र १५ व्यक्तियों (३ परिवार) के लिये ही उनका मांस पर्याप्त होगा।

'टोन्ड मिल्क'	१०० मि.ली. (१ छोटा सा कप)
प्रवाही दाल	३० ग्राम (१ कटोरी)
मूंगफली	१५ ग्राम (३० बडे दाने)

इनकी कींमत होगी कुल ५० पैसा, इसमें से १५ ग्राम प्रोटीन एवं ३०० 'केलरीज' मिलेगी, जब दूसरी ओर सामिष आहार के लिये (१५ ग्राम प्रोटीनयुक्त) मांस-मछली-४० ग्राम, १ अंडा-५० ग्राम इनकी कींमत होगी ८० पैसा.... और फिर 'केलरीज' तो केवल १५० ही मिलेगी!

हर दृष्टिकोण से मांसाहार त्याज्य है।

संलग्न "चार्ट को देखने से मालूम होगा कि कौन सा आहार ज्यादा उपयुक्त है।

प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थों का मूल्यांकन

नाम	**केलरीज शक्ति**	**प्रोटीन (ग्राम)**	**स्निग्ध पदार्थ (ग्राम)**	**स्टार्च या शर्करा-युक्त पदार्थ**	**महत्व के गुणदोष**
दूध					
मानव दूध	६५	१	३.५	७.५	अत्यंत पौष्टिक प्रवाही खुराक
गाय का दूध	६५	३	४.०	४.५	स्निग्ध पदार्थ मध्यम प्रमाण में होने से सुपाच्य।
भेंस का दूध	१००	४	७.०	५.०	स्निग्ध पदार्थ विपुल मात्रा में होने से बडी उम्र में प्रतिकूल
'टोन्ड' मिल्क	५५	३	३.०	३.०	गाय के दूध सा, चाय-कॉफी के लिये उपयुक्त
दूध का पावडर (मलाई-युक्त)	४९५	२७	२६.०	३८.०	ताजे दूध की 'क्वालिटी' निश्चित न होने पर पावडर के रुप में बच्चों के लिये उपयुक्त
दूध का पावडर (मलाई-रहित)	३५५	३८	नहींसा	५१.०	गेहूं या जौ के आटे में मिलाकर

					ज्यादा पौष्टिक बनाने के लिये पावडर लाभदायी।
पनीर	३४५	२४	२५.०	६.०	दुबले-पतले बच्चों के अनुकूल।

प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थों का मूल्यांकन

नाम	**केलरीज शक्ति**	**प्रोटीन (ग्राम)**	**स्निग्ध पदार्थ (ग्राम)**	**स्टार्च या शर्करा-युक्त पदार्थ**	**महत्व के गुणदोष**
[दलहन]					
ऊडद की दाल	३५०	२४	१.५	६०	पाचन में जड़, पर अत्यंत पौष्टिक एवं गुणकारी।
अरहर की दाल	३३५	२२	१.५	५८	सर्व सामान्य, चूंकि सस्ता दलहन।
मूंग की दाल	३५०	२४	१.०	६०	पचने में सरल, छिलके वाली ज्यादा पौष्टिक।
चना	३६०	१७	५.०	६१	तीन गुना स्निग्ध पदार्थ पर 'कोलेस्टरोल' कम करनेवाला
चौले	३३०	२५	०.५	५६	अच्छी मात्रा में प्रोटीन। पुड़े बनाने में उत्तम।
मठ	३३०	२४	१.०	५६	मुंग सा पदार्थ, छिलकाने से जडता कम करता है।
मटर (सूखे)	३१५	२०	१.०	५६	अत्यंत मधुर, इस शाक को सुखाने से पचने में थोड़ा जड़।
सेम (वाल)	३५०	२५	१.०	६०	'सेल्युलोंज' अधिक मात्रा में होने से वायु करने वाला, पचने में भारी।
सोयाबीन	४३५	४३	२०.०	२१	प्रोटीन की 'क्वालिटी' एवं प्रमाण-दोनों उम्दा।

प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थों का मूल्यांकन

नाम	केलरीज शक्ति	प्रोटीन (ग्राम)	स्निग्ध पदार्थ (ग्राम)	स्टार्च या शर्करा-युक्त पदार्थ	महत्व के गुणदोष
खोपरेल तेल	४४५	४	४२.०	१३	प्रोटीन की मात्रा काफी कम, सघन फेटी एसिड ज्यादा मात्रा में।
तिल का तेल	५६०	१८	४३.०	२५	सुवासित एवं रुचिकर, स्निग्धता ज्यादा मात्रामें।
मूंगफली का तेल	५५०	२७	४०.०	२०	मानवीय खाद्य पदार्थ के रुप में फेक्टरी में बनते खौल के लिये उपयुक्त।

मांसाहार

नाम	**केलरीज शक्ति**	**प्रोटीन (ग्राम)**	**स्निग्ध पदार्थ (ग्राम)**	**स्टार्च या शर्करा-युक्त पदार्थ**	**महत्व के गुणदोष**
मत्स्य	११०	१९	३.०	नहीं सा	प्रोटीन के दृष्टिकोण से पौष्टिक, पर खाद्य पदार्थ के रुप में ज्यादातर अपूर्ण। अधिक मात्रा में अम्लता पैदा करने में मुख्य। इस

					वर्ग के किसी भी पदार्थ की आवश्यकता निरोगिता या बीमारी में साबित होनी बाकी है.... अरसे के बाद खून में विकार एवं कचरा होने की संभावना। जीवशास्त्र के दृष्टिकोण से यह मानव खाद्य है ही नहीं।
मांस	१४०	२१	६.०	-	
अंडा (२ अंडे)	१७५	१३	१३.५	-	

शराब त्याज्य है!

धार्मिक दृष्टिकोण से शराब मानसिक वृत्तियों को उत्तेजित करती है.... और प्रवृत्तियों पर भी इसका विपरीत असर होता है.... यह तो है ही.... लेकिन शारीरिक तौर पर भी शराब बहुत खतरनाक चीज सिद्ध हो चुकी है।

पेट में जाते ही शराब में रहा हुआ 'ऑल्कोहल' तुरंत जिगर में, छोटी आंतों एवं नसों के द्वारा खून में पहुँच जाता है। और फिर पूरे शरीर में फैलता है.... बडी आंतों में शराब शायद ही पहुँचती है। खाली पेट में आंतों के द्वारा 'ऑल्कोहल' को बड़ीं तीव्र गति से खींच लिया जाता है। केवल १० से लेकर ३० मिनिट में 'ऑल्कोहल' खून में ऊपर तक पहुँच जाता है। जितनी ज्यादा मात्रा में शराब ली जाती है....उतना ज्यादा नुकसान होता है। पेट में सूजन, हृदय एवं गूरदे को नुकसान वगैरह होता है। 'ऑल्कोहल' का जहर खून को गाढ़ा बना देता है.... खून जम जाता है।

ज्यादा शराब पीने से हृदय की नसें अक्षम हो जाने का खतरा है। आँखे जलती है.... कै हो जाती है.... भूख नहीं लगती है.... थकान महसूस होती है.... पसीना होता है.... शरीर में कंपकंपी सी रहती है....!

शराब के कारण क्रोध-आवेग, गुस्सा, चिंता, भय, शोक, उदासी वगैरह बढ़ते हैं.... जिससे दिमाग में तनाव बढ़ता है.... तनाव बढ़ने से खून गरम रहता है.... पाचनक्रिया मंद हो जाती है.... मांसपेशी एवं नाड़ीसंस्थान जहां इकट्ठे होते हैं.... वहां पर 'ऐसिटिल कोलोन' नामक पदार्थ बनने लगता है.... जो कि, अन्य पदार्थों के साथ मिलकर 'कार्बन एवं कोगल' का निर्माण करता है.... इस स्थिति में 'लैक्टिक एसिड' बढने लगता है.... इससे शरीर की मूलायमता-चिकनाई नष्ट होने लगती है.... रुखापन एवं खुरदरापन चमड़ी पर उभरने लगता है। खून के परिभ्रमण में एवं पेशियों के संचालन में अवरोध खडे होते हैं।

The Crime Problem by Dr. Valteir C. Recklese (ओहियो विश्व विद्यालय के प्रोफेसर) पुस्तक में लिखा है 'अपराध की प्रवृत्तियाँ' करनेवाले व्यक्ति में शराब पीना, नशीली दवाईयों का सेवन एवं अस्वाभाविक यौनभावना ये सब बड़ा ही महत्वपूर्ण हिस्सा रखते हैं।

विरुद्ध-आहार क्यों नहीं? (द्विदल-त्याग)

धार्मिक दृष्टिकोण से जीवोत्पत्ति के कारण हिंसा के उपरांत, आयुर्वेद एवं शरीरशास्त्र के मंतव्य के अनुसार अलग अलग पदार्थों को मिलाने से उनमें रासायनिक संयोजनात्मक द्रव्य पैदा होते हैं.... वे विजातीय द्रव्य जहर बनकर शरीर में जाते हैं.... पसीना बनकर या अन्य किसी रुप में जब वे द्रव्य बाहर नहीं निकलते तब फिर खून में मिलकर खून को बिगाड़ते हैं। और धीरे धीरे चमड़ी के रोग बनकर विकृत होकर नजर आते है। अतः कच्चे दूध एवं दही के साथ दलहन (मूंग-उडद-चना-अरहर चौला वगैरह) खाना नहीं चाहिए। जैन धर्म इसका द्विदल त्याग के रुप में निर्देश करता है। इसके उपरांत भी स्वास्थ्य के लिये 'फ्रूटसलाद', 'आईस्क्रीम', 'फ्रूट श्रीखंड' 'दही-फ्रूट' वगैरह एवं 'एन्टीबायोटिक दवाईयाँ' भी विजातीय संयोजनों में से बनती हैं अतः इनका त्याग करना चाहिए। हालांकि इनमें जीवोत्पत्ति की शक्यता नहीं होने पर भी स्वास्थ्य के लिये ये पदार्थ खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं!

रात्रि भोजन भी नहीं! पर क्यों?

जैन धर्म में रात्रिभोजन-रात को खाने पीने की मनाई बडी कड़काई से की गई हैं.... क्यों? चूंकि एक तरफ हिंसा की, सूक्ष्म जन्तु एवं कीटाणुओं की हिंसा की शक्यता है, दूसरी ओर शरीर-शास्त्र के अनुसार देर रात को खाना खाने के बाद व्यक्ति को उपयुक्त श्रम एवं कार्य की व्यस्तता न होने से किया हुआ भोजन पूरा पचता नहीं है। परिणामस्वरुप अजीर्ण, बदहजमी, साँसों में दुर्गन्ध, दांतों की सड़न, कोष्ठबद्धता (Constipation) एवं पेट व गले के कई तरह के रोग होने की पूरी संभावना रहती है। रात को सूरज की किरणों के न मिलने से पाचन-तंत्र एकदम निष्क्रिय हो जाता है। जिससे भोजन

पचता नहीं है.... वैसे ही पड़ा रहा भोजन होजरी में सड़न पैदा करता है। सूर्य के प्रकाश के तेज में कई कृमि जीव नष्ट हो जाते है.... जो वास्तव में नष्ट नहीं होते वे प्रकाशहीन जगह में छुप जाते हैं.... सूरज के डूबते ही वे कृमि-कीटाणु वातावरण में फैलने लगते हैं। निरी आँखों से नहीं दिखनेवाले ये जीव खुराक के साथ पेट में चले जाते हैं एवं फिर अनेक प्रकार के रोगों को पैदा करते हैं!

समूचे विश्व के तमाम धर्मों में यह एक जैनधर्म ही ऐसा है कि जिसने खाने-पीने जैसी छोटी छोटी बातों के बारे में भी काफी कड़क एवं सावधानी भरे विचार रखे हैं। शरीर के विकास से भी ज्यादा मन के विकास की क्षितिजों के प्रति इस धर्म ने निगाह रखी है। और फिर अलग-अलग खाद्य पदार्थों की निश्चित एवं अच्छा-बुरा असर शरीर पर ही नहीं वरन् मन पर भी पड़ता है....

पर्वतिथि के दिनों में हरी-सब्जी क्यों नहीं खानी चाहिए?

जैन धर्म के आहार विषयक जितने भी नियम हैं....मर्यादाएं हैं.... इन सब के पीछे जन्तुरक्षा के उपरांत आरोग्य का भी दृष्टिकोण रहा है । पर्वीय तिथियों के दिनों में हरी सब्जी का प्रयोग निषिद्ध करने के पीछे बडा ही वैज्ञानिक कारण छुपा हुआ है। अपन समझे :

चंद्र एवं पृथ्वी के बीच काफी आकर्षण का संबंध है। पृथ्वी पर रहे हुए पानी पर चंद्र का असर विशेष तौर पर होता है। चंद्र के बढ़ने-घटने के साथ साथ ज्वार-भाटे का समय भी बदलता रहता है।

जब चंद्र के परिभ्रमण के बारे में सोचते हैं तो शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष के कुछ दिन जैसे पंचमी, अष्टमी, ग्यारस, चौदस एवं पूर्णिमा व अमावस्या के दिनों में चंद्र पृथ्वी एवं शरीर के बराबर सामने (सीधी लाईन में) आ जाता है। उस वक्त समुद्र के पानी में एवं शरीर में स्थित जलतत्व में बदलाव आता है। शरीर में जल तत्व बढता है.... अग्नि तत्व मंद हो जाता है.... वायु तत्व बढ़ता है-जो कि मस्तिष्क में चढ़ता है.... जिससे सर्दी, जुकाम, 'सायनस' 'एलर्जिक' सर्दी वगैरह की पूरी संभावना रहती है.... कभी-कभार तो व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ उन्मत्तता की हद तक विफर उठती है। शिकागो (अमरीका) के वैज्ञानिकों ने कई प्रयोग करके साबित किया है कि दिमाग की बीमारियों पर चंद्रमा का सीधा असर होता है।

इसीलिये उन दिनों में एकासन-एक समय खाना.... कम खाना....वगैरह नियम दर्शाये गये हैं..... कम से कम उन दिनों में हरी-सब्जियाँ जिनमें कि पानी का तत्व नब्बे प्रतिशत ९०% होता है उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस तरह से शरीर में रहे हुए जलतत्व को काबू में रखा जा सकता है।

यही बात चातुर्मास के दिनों में बनती है.... जल की वृद्धि के साथ अग्नि तत्व मंद होने से शरीर में पानी का संचय बढ़ता है.... तो उन दिनों में भी हरी सब्जियों का प्रयोग नहीं करने के लिये जैनधर्म कहता है! अलग अलग तरह की तपश्चर्याएं करने की प्रेरणा भी दी जाती है। चूंकि यह धर्म स्पष्ट रुप में मानता है कि मनुष्य बनाम पेट नहीं वरन् मन है।

`A man is not belly but brain' आदमी की महत्ता उसके डलडल के जरिये नहीं अपितु मन के विकास को मापदंड बनाकर आंकनी चाहिए।

जैन संघ की व्यवस्था

१ साधु **३ श्रावक**
२ साध्वी **४ श्राविका**

इन चार विभागों में जैन समाज बंटा हुआ है। इसे चतुर्विध संघ के रुप में भी जाना जाता है।

साधु-साध्वी संयमजीवन स्वीकारकर, संसारत्याग करके आत्मसाधना की राह पर गतिशील बने रहते हैं। आत्मविकास के आकाश की ओर उड्डयन के साथ साथ समाज के तमाम वर्गों के/ तमाम स्तर के लोगों को नैतिक धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य समझाते हैं.... जीवन के समुचित विकास के लिये मार्गदर्शन देते हैं। इसके लिये वे प्रवचन, वार्तालाप, शिक्षण-शिबिर, ध्यान-शिबिर, जाप, महोत्सव, भक्तिउत्सव के माध्यम एवं लेखन इत्यादि उपाय अपनाते हैं।

श्रावक एवं श्राविका का वर्ग गृहस्थ जीवन की यात्रा करते हुए संसार में रहकर जीवन के कर्तव्यों का यथोचित पालन, नियम-आचारों की सुरक्षा.... वगैरह के द्वारा यथाशक्ति धर्मआराधना करता रहता है।

भारत में तो गाँव गाँव एवं शहर शहर में जैन मंदिर, उपाश्रय, पाठशालाएँ, ज्ञानमंदिर-पांजरापोल, आयंबिलशाला, धर्मशाला जैसी संस्थाएं भलीभांति चलती हैं.... इन की सारी देखभाल स्थानीय संघ या अन्य संघो के द्वारा की जाती है.... ये संघ, पदयात्रा करते हुए जैन साधु-साध्वी की सेवा-सुश्रूषा भी अत्यंत भाव भक्ति से करते हैं।

जैनसंघ के भाई-बहन अपने सहधर्मी भाई बहनों के लिये भी काफी हमदर्दी एवं सहयोग की भावना रखते हैं।

जैन समाज के अधिकांश लोग अपनी शक्ति एवं भक्ति के मुताबिक धार्मिक व सामाजिक कार्यकलापों के लिये भी

दिल खोलकर दान देते हैं। तनतोड़ मेहनत करते हैं.... मन लगाकर सेवा करते हैं।

कुछ महत्वपूर्ण जैन संस्थाएं :- [एक परिचय]

जैन मंदिर

जैन मंदिर काफी भव्य, कलात्मक एवं आलीशान होते हैं....। अधिकांश मंदिर संगमरमर से निर्मित होते हैं। सुंदर कलात्मक स्थापत्यपूर्ण तोरण, मेहराब, दीवारें.... एवं छत में/ गुबंद में तराशी हुई-चित्रित की हुई अद्‌भुत शिल्प एवं चित्र कला व बेनमून स्थापत्य के कारण.... और भीतरी शांत वातावरण की अलौकिक पवित्रता के कारण जैन मंदिर सभी के लिये आकर्षण का केंद्र बन जाते हैं। शांति, प्रसन्नता एवं पवित्रता का त्रिवेणी-संगम यहां पर बहता रहता है....। मंदिर में प्रतिष्ठित संगमरमर की शांत, स्वस्थ एवं करुणापूर्ण सौन्दर्यभर मूर्तिओं के सान्निध्य में तो जैसे प्रेम एवं प्रसन्नता की हिलोरें उठती हैं!

जैन परिवारों में छोटे बच्चों से लेकर बड़े बूढ़े सभी लोग सुबह/ शाम मंदिर में जाते हैं। दर्शन, पूजन स्तवना, प्रार्थना, जाप, ध्यान करके अपने आपको धन्य बनाते हैं। अपनी आत्मा को तृप्त करते हैं। रोजाना शाम के वक्त (सूर्यास्त के बाद) प्रत्येक मंदिर में परमात्मा की आरती एवं मंगलदीप (घी के दिये जलाकर) उतारे जाते हैं। मधुर घंटारव.... नगाड़ों की ध्वनि.... सुमधुर समूह स्वरों में आरती का गान एवं घी के झिलमिलाते दियों की ज्योत में परमात्मा का निखरा हुआ सौन्दर्य.... जैसे कि धरती पर स्वर्ग उतर आता है तब!

विशेष त्योंहार एवं मौकों पर वहां विशिष्ट कार्यक्रमों का आयोजन भी होता है, जिसमें सेंकड़ों/ हजारों श्रद्धालु भक्तजन एकत्र होकर परमात्मा की पूजा-भक्ति करते हैं। कुछ एक जैन परिवार तो स्वयं अपने घर पर अलग 'स्पेशल' कमरा रखकर वहां गृहमंदिर बनाते हैं.... इस तरह परमात्मा की आराधना करते हैं।

मंदिरों में जब परमात्मा की प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया जाता है तब बड़ा महोत्सव मनाया जाता है जिसे अंजनशलाका-प्रतिष्ठा महोत्सव के रुप में पहचाना जाता है!

जैन उपाश्रय

जैन साधु-साध्वीजी जहां रुकते हैं/ रहते हैं,.... जहां धर्म आराधना करते हैं.... उस स्थान को उपाश्रय कहते हैं। श्रावक-श्राविकाएं एवं नन्हे मुन्ने बच्चे भी उपाश्रय में आकर दैनिक धर्मक्रियाएं-सामायिक/ प्रतिक्रमण वगैरह करते रहते हैं। स्त्रियों एवं पुरुषों के लिये अलग अलग उपाश्रय की सुविधा होती है। पुरुषवर्ग साधुओं के पास एवं स्त्रियां साध्वीजी के पास जाकर धर्म आराधनाएं करते हैं। उपाश्रय को शास्त्रीय भाषा में पौषधशाला या 'वसति' भी कहते हैं!

जैन ज्ञानमंदिर (पुस्तकालय)

ज्ञानमंदिर में प्राचीन-अर्वाचीन जैन साहित्य के पुस्तकों का संग्रह सुरक्षित ढंग से रखा जाता है। आज भी बड़ी तादाद में हस्तलिखित (वृक्ष के पत्र एवं कपड़ों पर लिखे हुए) ग्रंथ इन भंडारों में उपलब्ध हैं। इनकी सुव्यवस्थित सुरक्षा.... सफाई एवं सार सम्हाल के लिये बडी सावधानी रखनी पडती है। बरसों पुराने कई ग्रन्थ अत्यंत सहेजकर रखे हुए आज भी देखने को मिल सकते हैं। जैसलमेर, बीकानेर, पाटन, खंभात, लींबडी, कोडाय (कच्छ) अहमदाबाद, कोबा, डभोई, बम्बई, वगैरह शहरों के ज्ञानभंडार तो देखने लायक-दर्शनीय स्थान बने हुए हैं।

प्राचीन हस्तलिखित ताडपत्रीय प्रतों में उपलब्ध प्रत इस्वी सन् हजार साल या इससे भी पुरानी मिलती है।

जैन ज्ञानभंडारों की सबसे बडी विशेषता यह है कि यहां पर जैन ग्रंथों के अलावा भारतीय एवं विदेश के कई तरह के ग्रंथ एवं पुस्तकें मिलती है। बौद्ध एवं हिन्दु संप्रदाय के ऐसे कुछ ग्रंथ जो कि कहीं पर उपलब्ध नहीं थे, वे प्राचीन जैन भंडारों के संग्रह में हस्तलिखित रुप में सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित ढंग से मिल गये।

जिज्ञासुजनों को एवं संशोधन करने वाले विद्वानों एवं छात्रों को ये सारे ग्रंथ पठन-पाठन एवं अध्ययन के लिये उपलब्ध भी हो सकते हैं।

जैन पाठशाला

जैन पाठशाला में जैन धर्म का प्राथमिक शिक्षण एवं जैन ग्रंथों का अध्ययन वगैरह करवाया जाता है। बहुधा तो जहां भी जैन परिवार रहते हैं वहां पर ऐसी पाठशालाएं होती हैं। चुने हुए शिक्षक एवं शिक्षिकाएं वहां पर हमेशा छोटे छोटे बच्चों से लेकर बड़ों-बूढ़ों तक को धार्मिक अध्ययन करवाते हैं। बच्चों में संस्कारों का प्रकाश फैले.... जीवन-विकास हो वैसी अन्य प्रवृत्तियाँ भी पाठशाला में होती हैं। कुछ शहरों की पाठशालाओं में संस्कृत-प्राकृत के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था भी उपलब्ध होती है.... वहां पर साधु-साध्वीजी को भी अध्ययन करवाया जाता है!

आयंबिलशाला

जैन धर्म में आयंबिल के तप को अत्यंत मांगलिक एवं प्रभावी माना गया है। आयंबिलशाला में कोई भी भाई-बहन आयंबिल करने के लिये जा सकते हैं! आयंबिल करने के लिये वहां पर रूखा-सूखा एवं मसाले वगैर का भोजन उपलब्ध रहता है। आयंबिलशाला में पीने के लिये गरम पानी की व्यवस्था भी रखी जाती है! जहां पर जैन परिवार बड़ी संख्या में बसते हों वहां पर आयंबिलशाला होती ही है!

जैन पांजरापोल (पशु-आश्रयस्थान)

अहिंसा एवं दया की भावना जिनके प्राणों में समायी हुई है, वैसे जैन लोग अबोल-गूंगे पशु-जानवर एवं पक्षियों के लिये गाँव गाँव में पांजरापोल चलाते हैं। जिसमें निराधार, अशक्त, अपंग-अपाहिज, पशु-पक्षियों को रखा जाता है। उनके चारे-पानी की व्यवस्था से लेकर उनकी दवाई एवं मरहम पट्टी की व्यवस्था भी वहां उपलब्ध होते हैं! बूचड़खानें में जाने वाले कई पशुओं को बचाकर ऐसी पांजरापोल में सुरक्षित रखा जाता है! आज भी गुजरात एवं राजस्थान में कई बड़ी बड़ी पांजरापोलों में सैकड़ों/ हजारों पशुओं को रखा जाता है।

जैन धर्मशाला एवं भोजनशाला

जब एक या अन्य प्रयोजन से जैन लोग एक शहर से दूसरे शहर में जाते हैं तब वहां पर उनके उतरने/ रहने के लिये धर्मशाला की व्यवस्था होती है। बिल्कुल मामूली शुल्क देकर वे धर्मशाला में रह सकते हैं। अलबत्ता, जैन धर्म के सिद्धांत एवं नियमों का पालन उन्हें अवश्य करना पड़ता है। धर्मशाला में कमरा, गद्दी-तकिया, पलंग, पानी वगैरह तमाम सुविधाएं उपलब्ध होती हैं।

इसी तरह जैन भोजनशाला में मामूली से शुल्क में शुद्ध सात्विक एवं शाकाहारी भोजन परोसा जाता है। कोई भी व्यक्ति जैन संस्कारों को अपनाकर इस भोजनशाला में जाकर भोजन वगैरह कर सकता है। रात्रिभोजन, जमीनकंद, बासीभोजन, द्विदल (विरुद्ध आहार) अभक्ष्य एवं अखाद्य पदार्थ भोजनशाला में वर्जनीय होते हैं।

अधिकांश जैन तीर्थों में धर्मशाला एवं भोजनशाला की सुविधाएं उपलब्ध होती हैं। ताकि वहां आने-जाने वाले यात्रिकों को रुकना हो तो आवास एवं भोजन की असुविधा का शिकार न होना पड़े। पिछले कुछ अरसे से छोटे बडे शहरों में भी जैन धर्मशालाएं एवं भोजनशालाएं निर्मित होने लगी हैं। कुछ धर्मशालाएं तो आधुनिक सुविधाओं से संपन्न भी होती हैं।

जैन समाज की हर एक संस्था का संचालन होता है उदार-दिल जैन श्रीमंतों के आर्थिक सहयोग से, प्रति वर्ष करोड़ों रुपये खर्च किये जाते हैं। इन सारी संस्थाओं को भलीभांति चलाने के लिये, जहां भी आवश्यकता हो वहां पर भारतभर के तमाम संघ एक दूजे के लिये सहयोगी बनते हैं।

जैन तीर्थ

जैन तीर्थ, उनकी पवित्रता, उसके बेनमून मंदिर, शांत-प्रफुल्लित एवं आनंदप्रद वातावरण के लिये दुनियाभर में सुप्रसिद्ध हैं! अधिकांश जैन तीर्थ पर्वतीय प्रदेश में या फिर दूर जंगलों झरनों के बीच निर्मित हैं! पेड़-पत्ते, वृक्षों के झुरमुट घटाएं.... पहाडियाँ.... वाड़ियाँ.... घाटियाँ.... शांत.... खामोशीभरी नीरवता.... जनशून्यता...., जहाँ पर जाकर व्यक्ति अपने आप के साथ मुलाकात कर सके.... खुद ही खुद को मिल सके! वैसे रम्य-सुरम्य-एवं अलिप्त स्थानों पर तीर्थों का आयोजन करने के पीछे आशय यह रहा है कि व्यक्ति कुछ समय के लिये दुनियादारी से मुक्त होकर आत्माभिमुख हो सके! एक तरफ पर्वतीय या जंगल का खूबसूरती भरा आसपास.... उसमें फिर उन्नत एवं बादलों को छूते हुए मंदिरों के शिखर.... प्रसन्नता से छलकती सुंदर प्रतिमाएं, पवित्रता से भरापूरा वातावरण, यह सब आदमी को स्वस्थता देता है.... स्वच्छता एवं सहजता देता है.... शत्रुंजय, गिरनार, आबू, तारंगा, कुंभारिया, शंखेश्वर, देलवाड़ा, जैसलमेर, सम्मेतशिखर, राणकपुर, पावापुरी, राजगृही वगैरह सेंकडों तीर्थों के सुहावने मंदिर आज भी लाखों.... मनुष्यों को सुख शांति एवं प्रसन्नता की राह दिखा रहे हैं! अलबत्ता, तीर्थों की यात्रा करते वक्त वहां के वातावरण की पवित्रता को बरकरार रखने के लिये उचित नियमों का पालन पूरी ईमानदारी से किया जाना चाहिए। तीर्थ तो Mass Experimental Field से होते हैं। उनकी पवित्रता बनाये रखना हमारा कर्तव्य हैं।

सात क्षेत्रों की व्यवस्था

जैन धर्म के महत्वपूर्ण अंगों को निम्न रुप से सात विभागों में, जिन्हें सातक्षेत्र के शास्त्रीय नाम से जाना जाता है, बांटा गया है। इन सातों क्षेत्रों के निर्वाह के लिये अलग-अलग द्रव्यों की व्यवस्था की गयी है। जो द्रव्य (धनराशि) जिस क्षेत्र के लिये नियत किया गया हो, उसी विभाग में उसका उपयोग हो सकता है, अन्य क्षेत्रों में नहीं! हालाँकि आवश्यकता होने

पर नीचे के विभागों का द्रव्य ऊपर के विभागों के लिये काम में लिया जा सकता है, पर ऊपर का द्रव्य नीचे के विभाग में काम में नहीं लिया जा सकता है, ऐसी एक पारंपरिक व्यवस्था है।

१. जिनमंदिर २. जिनमूर्ति : ये दोनों विभाग परस्पर संबंधित होने से मूर्ति के निर्माण से लेकर मंदिर के निर्माण या जीर्णोद्धार (पुनर्निर्माण) के लिये सम्मिलित रुप से उपयोग में आनेवाली राशि को देवद्रव्य कहा जाता है।

३. जिन आगम : इस विभाग के जरिये सम्यग्ज्ञान के प्रचार प्रसार, मुद्रण, लेखन, ग्रंथों का संरक्षण वगैरह की व्यवस्था की जाती है एवं साधु-साध्वीजी के अध्ययन-अध्यापन की आर्थिक व्यवस्था में यह द्रव्य, जिसे ज्ञानद्रव्य या ज्ञानखाता भी कहा जाता है.... उपयोग में लिया जाता है।

४. साधु एवं ५. साध्वी : इस विभाग के लिये नियत द्रव्य में से साधु-साध्वीजी की जीवनयात्रा, एवं संयमयात्रा की आवश्यकताएं पूरी की जाती है! उनकी सेवा-सुश्रुषा वगैरह करने के लिये भी इस द्रव्य का प्रयोग किया जाता है। इस को 'वैयावच्च विभाग' के रुप में भी जाना जाता है।

६. श्रावक :- ७. श्राविका :- श्रावक-श्राविका (गृहस्थ वर्ग) के लिये नियत द्रव्य को साधारणद्रव्य या साधर्मिकद्रव्य भी कहा जाता है। इसके द्वारा दुःखी एवं साधारण स्थिति के गृहस्थों की आवश्यकताएं पूरी की जाती हैं। उन्हें आर्थिक-सहयोग दिया जाता है। कम कीमत पर या निःशुल्क उन्हें अनाज, वस्त्र, दवाईयाँ वगैरह देने की व्यवस्था भी की जाती है। जरुरतवाले परिवारों की सार-सम्हाल की जाती है।

इसके उपरांत जीवदया का एक विभाग होता है जिसके द्वारा प्राणी-पशु-पक्षी वगैरह की सारसम्हाल रखी जाती है एवं उनके दाने-पानी की व्यवस्था की जाती है।

जैन पर्व (आराधना-उपासना के विशिष्ट दिन)

वैसे तो सामान्यतया पर्व-त्योहार यानी उत्साह, मौज, खानापीना.... जलसे करना, हल्ला-गुल्ला मचाना एवं मनोरंजन के मेले से होते हैं, पर जैन धर्म के सभी पर्व-त्योहार त्याग-तपश्चर्या, स्वाध्याय, जाप-ध्यान, परमात्मभक्ति वगैरह से भरे पूरे होते हैं। सांसारिक जंजाल में घिरा हुआ व्यक्ति भी इन दिनों के दौरान कम-ज्यादा मात्रा में अपनी क्षमता एवं सुविधा के मुताबिक दुनियादारी से अलग होकर धर्म आराधना में डूब जाता है। जैन धर्म की नींव है त्याग एवं तपश्चर्या।

पर्युषण महापर्व

सभी त्योहारों में बंदनवार सा यह पर्व प्रति वर्ष चातुर्मास के दौरान भाद्रपद कृष्ण पक्ष की १२ से आरंभ होकर भाद्रपद शुक्ल पक्ष की ४ के दिन समाप्त होता है। इन आठ दिनों के दौरान सारे जैन समाज में उल्लास, उमंग एवं उत्साह का समा बंध जाता है। छोटे छोटे बच्चों से लेकर बड़े-बुजुर्ग लोग भी इन दिनों के दौरान आठ/ आठ दिन के उपवास (अट्ठाई का तप) करते हैं। कई स्त्री-पुरुष एवं बच्चे आठ दिन का पौषधव्रत भी ग्रहण करते हैं। इन दिनों में गुरुजन कल्पसूत्र नामक जैनों के परमपवित्र ग्रंथ का सविस्तर पठन करते हैं । पूरा संघ भावविभोर होकर सुनता है। सात दिन साधना के एवं आठवाँ दिन सिद्धि का हो, उस ढंग से संवत्सरी महापर्व की आराधना की जाती है। श्री कल्पसूत्र के १२५० मूल सूत्रों का गुरुजनों के श्रीमुख से श्रवण, संध्या के समय वार्षिक प्रतिक्रमण (संवत्सरी प्रतिक्रमण) किसी भी जीवात्मा के साथ यदि मनमुटाव-दुश्मनी-अपराध हुए हों तो उन्हें भूलाकर संबंधित व्यक्ति से क्षमा मांगना.... परस्पर क्षमापना करना, वगैरह के साथ संवत्सरी की आराधना की जाती है।

नवपद ओली

(इसका वर्णन तपश्चर्या के विभाग में हो चुका है। देखें पेज नं. ५८) इस पर्व के दिनों में रोजाना नौ पदों के पूजन-अर्चन के साथ साथ श्रीपाल एवं मयणा की रासकथा का आयोजन भी किया जाता है।

महावीरजन्म - दिवस -

भारतीय पंचांग के अनुसार प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीरस्वामी का जन्म दिवस मनाया जाता है। इस प्रसंग पर भव्य रथयात्रा, समूह स्नात्र-महोत्सव, बडी पूजाएं, महापूजन, गुणगान, वार्तालाप, प्रवचन-गोष्ठियां, भक्ति वगैरह का आयोजन किया जाता है। क्षत्रियकुंड (बिहार प्रांत में स्थित) में इस दिन बड़ा उत्सव मनाया जाता है, चूंकि इसी स्थान पर भगवान महावीर का जन्म हुआ था।

दिवाली

कार्तिक महीने की अमावास्या यानी श्रमण परमात्मा महावीरस्वामी की निर्वाण-रात्रि। पावापुरी में प्रभु इसी रात्रि को

देह एवं कर्म के सभी बंधन तोड़कर मुक्त हुए थे। काली चतुर्दशी, अमावास्या एवं नया वर्ष (कार्तिक शुक्ला १) यों तीन दिन का यह उत्सव पौषध, उपवास, विशिष्ट जाप-ध्यान के लिये काफी महत्वपूर्ण है। चतुर्दशी एवं अमावास्या के दो दिनों में उपवास कर के प्रभु महावीर का अंतिम उपदेश जिसमें संगृहित है उस 'उत्तराध्यन सूत्र' का श्रवण किया जाता है। पठन-पाठन किया जाता है। दिवाली की पूरी रात श्रमण भगवान महावीर के जाप-ध्यान में बीतायी जाती है, जब कि नये वर्ष के दिन प्रातःकाल में भगवान के प्रथम शिष्य एवं गणधर गौतमस्वामी को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई होने से उनके गुणगान के रुप में अधिकांश जैन संघ अपने गुरुजनों के श्रीमुख से महाप्रभावशाली मंत्र-गर्भित स्तोत्रों का श्रवण (नवस्मरण का श्रवण) एवं गौतम-स्वामी के रास का मंगल श्रवण कर के नये वर्ष का प्रारंभ करते हैं।

भाईबीज

श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण से संतप्त एवं शोकार्त राजा नंदिवर्धन (भगवान के भाई) को उनकी बहन सुदर्शना, कार्तिक शुक्ला २ के दिन अपने घर ले जाती है एवं उन्हे सांत्वना-स्वस्थता देती है। इस दिन को भाई बीज के रुप में माना जाता है। जिस तरह रक्षाबंधन का त्योहार है भाई-बहन के लिये, जिसमें बहन-भाई के वहां जाती है, उसी तरह यह त्योहार है, जिस त्योहार में भाई बहन के वहां जाता है।

ज्ञानपंचमी

प्रति वर्ष कार्तिक शुक्ला ५ के दिन को (दिवाली के बाद ५ वाँ दिन) ज्ञानपंचमी कहा जाता है। ज्ञान की आराधना-उपासना के लिये यह विशिष्ट दिन नियत किया गया है, इस दिन उपवास, पौषध, देववंदन (प्रार्थनामय भक्ति) जाप-ध्यान, प्रतिक्रमण, पूजा वगैरह के द्वारा ज्ञानोपासना हेतु धर्मक्रियाएं की जाती हैं। ज्ञानभंडारों में रहे हुए ग्रंथों की सफाई करना, उनका पूजन-परिमार्जन वगैरह किया जाता है।

आषाढ चतुर्दशी

आषाढ शुक्ला चतुर्दशी यानी चातुर्मास का पुनीत प्रारंभ! जैन साधु-साध्वी इस दिन जहां हो, वहीं पर रुक जाते हैं, कार्तिक शुक्ला १४ तक उन्हें वहीं पर रुकना होता है। इन चार महीनों के दौरान जैन संघ में त्याग, तप, अनुष्ठान वगैरह विशेष धर्मक्रियाएं आयोजित होती हैं! खाने-पीने के लिये भी कुछ विशेष नियम इन दिनों में किये जाते हैं!

कार्तिक पूर्णिमा

आषाढ चतुर्दशी से आरंभित चातुर्मास कार्तिक पूनम के दिन पूर्ण होता है। जैन साधु-साध्वी अपनी आठ महीनों की विहार यात्रा का प्रारंभ करते हैं। इस दिन जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ शत्रुंजय (पालीताना) की यात्रा का काफी महत्व माना गया है। हजारों की तादाद में जैन परिवार इस रोज तीर्थयात्रा करते हैं। आज ही के दिन कलिकालसर्वज्ञ आचार्यभगवंत श्री विजय हेमचन्द्रसूरीश्वरजी का जन्म (विक्रम संवत ११३४ - इ.स. १०७८ में) हुआ था।

मौन एकादशी

मार्गशीर्ष महीने की शुक्ला एकादशी यानी जैनों के लिये पूर्ण मौन, पौषधव्रत, उपवास, देववंदन, जाप-ध्यान वगैरह की साधना करने का महत्वपूर्ण दिवस! एकसो पचास जिनेश्वरों के कल्याणकों के (विशिष्ट घटनावाले दिन) दिन की आराधना आज के दिन जाप के द्वारा की जाती है। इस दिन के साथ सुव्रतश्रेष्ठी की कहानी जुड़ी हुई है।

पौषदशमी

भगवान पार्श्वनाथ के जन्म दिन के रुप में आज का दिन सुख्यात है। पौष वदी १० के दिन सैकड़ों-हजारों जैन-स्त्री-पुरुष ३ उपवास-अट्ठम का तप करके जाप-ध्यान के माध्यम से आत्मसाधना करते हैं। जैनों के पावनतीर्थ शंखेश्वर में तो आज के दिन बड़ा भारी मेला सा लगता है। हजारों की तादाद में वहाँ पर अट्ठम होते हैं।

अक्षयतृतीया

वरसीतप की महान तपश्चर्या करने वाले तपस्वी आज के दिन शत्रुंजय की शीतल छाया में, गन्ने का रस लेकर अपने तप का पारणा करते हैं। भगवान ऋषभदेव ने आज ही के दिन एक बरस के लगातार उपवास का पारणा किया था। आज के दिन शत्रुंजय की यात्रा का अत्यंत महत्त्व दर्शाया गया है।

जैन उत्सव

स्नात्र महोत्सव

भक्तिभावपूर्वक परमात्मा की मूर्ति का अभिषेक करना, विविध द्रव्यों से परमात्मा का पूजन करना, समर्पण करना, गीत-संगीत एवं नृत्य के साथ प्रभु की भक्ति करना.... इसको स्नात्र महोत्सव या स्नात्र पूजा कहते है। बहुधा जैन मंदिरों में प्रतिदिन स्नात्र महोत्सव का आयोजन होता है। किसी भी मांगलिक अवसर पर.... या खुशी के मौके पर परमात्म-भक्ति करना, परमात्मा के अनुग्रह को अभिव्यक्त करना यह जैन धर्म की नींव में हैं।

अट्ठाई महोत्सव

आठ दिन का महोत्सव यानी अट्ठाई महोत्सव! आठ दिन तक रोजाना जिन मंदिर में परमात्मा के समक्ष गीत-गान-नृत्य संगीत वगैरह के साथ प्रार्थनाएं हो.... स्तवना-कीर्तन हो, पूजाएं पढ़ाई जाये.... मंदिर को सजाया जाये.... प्रतिमाओं को अलंकृत किया जाये.... जब भी मांगलिक प्रसंग का आयोजन हो तब इस तरह आठ दिन के अथवा पाँच दिन के महोत्सव का आयोजन किया जाता है।

शांतिस्नात्र

यह क्रिया अत्यंत मंगलमयी एवं कल्याणमयी मानी गई है! किसी भी छोटे बड़े उत्सव में अंतिम दिन इसका आयोजन किया जाता है। शांतिस्नात्र में परमात्मा की मूर्ति का २७ बार या १०८ बार भक्तिभाव पूर्वक अभिषेक किया जाता है। साथ ही विशिष्ट द्रव्यों के समर्पण के साथ पूजन वगैरह किया जाता है। इसके अंतर्गत मंगलकुंभ की स्थापना, अखंड दीपक की स्थापना, नवग्रह वगैरह का पूजन, एवं अन्य देव-देवियों का पूजन-अर्चन किया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा सारे विश्व के कल्याण की कामना की जाती है। संस्कृत श्लोकों का गान करके 'सर्वत्र सुख, आनंद एवं प्रसन्नता-पवित्रता का वास हो,' वैसी भावना अभिव्यक्त की जाती है।

सिद्धचक्र महापूजन

स्वच्छ पवित्र एवं रम्य जगह पर श्री सिद्धचक्रजी के यंत्र का आलेखन किया जाता है.... जिसमें गेहूं, मूंग, ऊड़द, चने की दाल, चावल के द्वारा विविध रंगों में यह यंत्र बनाया जाता है। नौ पदों का जाप, ध्यान, पूजन, स्तवना.... के साथ साथ अन्य भी कई देवदेवियों का पूजन, पद.... लब्धियां, शक्तियां वगैरह का अर्चन किया जाता है।

अट्ठारह अभिषेक

किसी भी नयी पुरानी मूर्ति, चित्रपट्ट या संगमरमर के पट्ट के विशुद्धिकरण एवं पवित्रीकरण के लिये यह क्रिया की जाती है। अलग अलग तरह के पानी, औषधियाँ एवं विशिष्ट द्रव्यों के माध्यम से मंत्रोच्चारपूर्वक १८ बार अभिषेक किये जाते हैं। यह क्रिया अत्यंत मंगलकारी एवं प्रभावशाली मानी गयी है।

अंजनशलाका

बिल्कुल नवनिर्मित जिनमूर्तियों की आँखों में विशिष्ट द्रव्यों का अंजन सुवर्ण की शलाका के द्वारा करने के उत्सव को 'अंजन-शलाका महोत्सव' करते है। इस महोत्सव में परमात्मा के -

१. **च्यवन** (माँ के उदर में गर्भरुप में अवतरित होना)
२. **जन्म** (जन्म लेना)
३. **दीक्षा** (सांसारिक जीवन का त्याग करके साधनामय संयमी जीवन स्वीकारना)
४. **कैवल्यज्ञान** (तप साधना करके विशुद्ध एवं श्रेष्ठ कक्षा का ज्ञान प्राप्त करना)
५. **निर्वाण** (देह एवं कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाना)

इन पाँचों कल्याणकों को काफी भव्यता एवं भक्ति के साथ मनाया जाता है। कैवल्यज्ञान कल्याणक का उत्सव ही अंजन-शलाका कहा जाता है जो कि, शुभ एवं पवित्र मुहूर्त में मध्य रात्रि के दौरान आयोजित किया जाता है। शलाका के द्वारा अंजन करने का अधिकार एक मात्र जैन शासन के प्रभावशाली एवं तेजोपूत आचार्यभगवंत या अनुयोगाचार्य को ही मिलता है।

प्रतिष्ठा

नवीन जिनमंदिर या पुनर्निर्मित जिनमंदिर में प्रभु की प्रतिमा को प्रतिष्ठापित करने की क्रिया को प्रतिष्ठा कहा जाता है। हालाँकि नयी प्रतिमा का अंजन किया हुआ होना अत्यंत जरुरी है। कई दिनों के उत्सव के साथ यह विधि की जाती है। शुभ दिन में पवित्र मुहूर्त के समय पर महापुण्यशाली सद्गृहस्थ के हाथों प्रभु की मूर्ति को प्रतिष्ठित किया जाता है। इस प्रसंग पर मंत्र-तंत्र एवं यंत्रो की आराधना के अनेक विधान किये जाते हैं। हालाँकि मंदिर में परमात्मा की प्रतिष्ठा प्रतीकात्मक है, हृदयमंदिर में प्रभु को प्रतिष्ठित करने के लिये मंदिर में प्रतिमा को बिराजमान किया जाता है।

ध्वजारोहण

प्रतिष्ठा के दिन एवं प्रतिवर्ष प्रतिष्ठा की सालगिरह पर मंदिर के शिखर पर नयी ध्वजा चढाई जाती है। इस दिन सत्रह प्रकार की पूजाएं (सत्रहभेदी पूजा) पढायी जाती है। उसमें ध्वज पूजा के दौरान ध्वजा चढायी जाती है।

रथयात्रा

भक्तिभावपूर्वक बेन्ड-बाजों के साथ, हजारों/ सैकड़ों भावुक भक्तों के साथ, चतुर्विध संघ के साथ प्रभुजी की सुंदर प्रतिमा को रथ में बिराजमान करके नगर के तमाम लोग भगवान का दर्शन कर सकें इस हेतु से नगर के प्रमुख मार्गो पर शोभायात्रा के रुप में निकालना इसको कहते हैं रथयात्रा। चालु भाषा मे इसे वरघोड़ा कहते हैं पर इसका वास्तविक नाम तो चैत्ययात्रा या रथयात्रा ही है। चैत्ययात्रा यानी नगर के जिन चैत्यों (मंदिरों) के दर्शन-वंदन करना।

संघयात्रा

साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के साथ मिलकर पदयात्रा करते हुए गाँव गाँव के जिनमंदिरों के दर्शन-पूजन करना, अलग अलग तीर्थों की यात्रा करना.... धर्म प्रचार एवं प्रसार करना, दीन-दुःखी जनों को सहयोगी बनते हुए की गयी संघयात्रा जीवन को धन्य बनाती है। ऐसी यात्रा के दौरान छह बातें काफी महत्व की एवं अनिवार्य रुप से पालन करनी होती हैं। इसलिये संघयात्रा को छरी पालित संघ या पदयात्रा संघ भी कहा जाता है।

१. **सम्यक्त्व धारण** - दृढ श्रद्धा से सत्य को उसी रुप में स्वीकारना ।

२. **एकासन** - एक समय भोजन करना।

३. **भूमिशयन** - जमीन पर दरी बिछाकर सोना/ गद्दी पर नहीं सोना।

४. **ब्रह्मचर्य** - जातीय-व्यवहार से दूर रहना।

५. **पदयात्रा** - नंगे पैरों चलना।

६. **सचित्त-त्याग** - सजीव पदार्थों का उपयोग नहीं करना।

इन छह बातों के साथ की गयी पदयात्रा मुक्ति की यात्रा बन जाती है। संसारयात्रा का समापन करती है।

मालारोपण

कोई भी व्यक्ति जब व्यक्तिगत रुप से संघयात्रा का आयोजन करे.... अपने खर्चे से संघ को यात्रा करवाये, या कोई गृहस्थ उपधान तप का अनुष्ठान सर्व प्रथम करे, तब उन्हें माला पहनायी जाती है। विशिष्ट क्रिया एवं विध मंत्रों से पवित्र माला पहनायी जाने के कारण मालारोपण का महोत्सव महत्वपूर्ण होता है। कई बार तो प्रथम माला पहनने की बोली लगती है। इस तरह की माला पहनना धन्यता की निशानी है।

उद्यापन

कोई भी व्यक्ति स्त्री या पुरुष जब कुछ विशिष्ट धर्मआराधना या अनुष्ठान एवं तप वगैरह करते हैं तब उसकी निर्विघ्न एवं मंगलमयी पूर्णाहूति के उपलक्ष्य में उद्यापन का उत्सव मनाया जाता है। चालु भाषा में इसे उजमणा-उजवणा भी कहते है। इसके अन्तर्गत मंदिर में उपयोग में आनेवाली सामग्री, ज्ञान के पुस्तक एवं साधन-सामग्री तथा साधु-साध्वीजी के लिये जरुरी उपकरण, यों ज्ञान-दर्शन एवं चरित्र-मोक्षमार्ग के इन तीन मुख्य साधनों के प्रदर्शन एवं वितरण के द्वारा यह उत्सव मनाया जाता है। इसमें छोड़ बनवाना (मखमल पर जरी के द्वारा चन्दरवा, पिछवई एवं रुमाल बनवाना), महत्व रखता है।

साधर्मिक वात्सल्य

नवकार मंत्र का स्मरण करने वाले एवं श्रमण भगवान महावीर के प्रति श्रद्धा रखने वाले तमाम स्त्री पुरुष-एक जगह

पर एकत्र होकर भोजन करें.... एक-दूसरे को खाना खिलाये.... इसे साधर्मिक वात्सल्य कहा जाता है। इस दिन पूजा, परमात्म-भक्ति वगैरह का आयोजन भी किया जाता है। जैन आचार एवं आहार व्यवस्था के मुताबिक होनेवाले इस समूह भोजन को चालू भाषा में स्वामीवात्सल्य या नवकारशी भी कहते है।

इसके उपरांत भी अन्य कई तरह के पूजन-अनुष्ठान वगैरह किये-करवाये जाते है। हालाँकि सभी उत्सवों के दौरान विधि-विधान करवाने की जिम्मेदारी शुद्ध, श्रद्धावान, श्रावकगण अदा करते हैं। साधु भगवंत इसमें समुचित मार्गदर्शन अवश्य देते हैं।

जैन समाज के तमाम पर्वों में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं सृष्टि की शांति प्रसन्नता व पवित्रता के लिये प्रार्थना की जाती है! गरीबों को, जरुरतवालों को दान, सहायता देना, पशुओं को चारा पानी देना, पक्षियों को दाने देना.... अस्पतालों में रोगी-अपाहिजों को दवाई वगैरह देना.... ये सारी बातें लक्ष्य में रखी जाती हैं.... चूंकि अनुकंपा-दान को जैन धर्म में प्रथम मान्यता दी गयी है।

जैन तत्वज्ञान [विचार व्यवस्था]

त्रिपदी

श्रमण भगवान महावीरस्वामी ने जब धर्मतीर्थ की स्थापना की.... तब अपने प्रथम शिष्य एवं प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम सहित ११ गणधरों (मुख्य शिष्यों) को ३ वाक्य ऐसे दिये कि जिनमें समग्र जैन शासन एवं तत्वज्ञान की बुनियाद समा जाती है। इन तीन वाक्यों को 'त्रिपदी' के नाम से पहचाना जाता है।

१. उपन्नेइ वा	पदार्थ उत्पन्न होता है	उत्पाद=उत्पत्ति
२. विगमेइ वा	पदार्थ नष्ट होता है	व्यय=लय
३. धुवेइ वा	पदार्थ स्थिर रहता है	ध्रौव्य=स्थिति

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' -

जो सत् है वह द्रव्य है.... पदार्थ है.... अलग अलग अवस्थाएं-पर्याय के रुप बदलने पर भी जिसका मौलिक रुप एवं शक्ति ध्रुव रहती है.... स्थिर रहती है.... यथावत् रहती है.... उसे द्रव्य कहा जाता है। यह द्रव्य, गुण एवं पर्याय (भिन्न भिन्न परिवर्तनशील अवस्थाएं) सहित होता है।

द्रव्य में, द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उत्पत्ति एवं लय की प्रक्रिया निरंतर चालू रहती है। पर इससे मूलभूत स्वरुप को कुछ भी नुकसान नहीं होता।

द्रव्य के रुप में तो वह बिल्कुल सलामत एवं स्थिर ही रहता है। मात्र पर्याय पैदा होते हैं एवं नष्ट होते हैं। इसीलिए तो जैन धर्म किसी भी पदार्थ को सर्वथा नित्य (स्थिर) या सर्वथा अनित्य (अस्थिर-विनाशी) नहीं मानता। पदार्थ का जो नाश हम देखते हैं वास्तव में तो वह केवल द्रव्य का रुपांतर ही है। जैसे कि कोयला जलकर राख बन जायगा.... सचमुच तो कोयला खत्म नहीं होता, पर हवा में स्थिर ओक्सीजन (Oxygen) के अंश में मिलकर वह कार्बोनिक एसिड (Carbonic acid) के रुप में तब्दील हो जाता है।

जैन धर्म के मुताबिक इस संसार में जितने द्रव्य फिलहाल हैं.... पहले भी उतने ही थे एवं भविष्य में भी उतने ही रहेंगे। इसमें कोई कम-ज्यादा नही होता। तमाम पर्याय अपनी अपनी सत्ता की मर्यादा में उत्पन्न होते हैं.... एवं नष्ट होते हैं। द्रव्य अपने मौलिक रुप में अखंड एवं अविनाशी रहता है।

विश्व व्यवस्था

सृष्टि-निर्माण के बारे में जैन विचारधारा -

जैन दर्शन इस विश्व को अनादि-अनंत मानता है। कभी भी इस विश्व का न तो प्रारंभ हुआ है न ही इसका कभी अंत होने का। 'ईश्वर ने इस सृष्टि का सर्जन किया है या दुनिया बनायी है' इस मान्यता एवं इस सिद्धांत का जैन धर्म पूरी तरह से इनकार करता है। चूंकि इस सृष्टि का निर्माण ईश्वर के द्वारा किया गया है, ऐसा माना जाय तो कई तरह के सवाल मुँह बाये खड़े हो उठते हैं जैसे कि :

यदि ईश्वर ने इस सृष्टि का निर्माण किया है तो उस निर्माता ईश्वर का निर्माण किसने किया? ईश्वर को जिसने बनाया उसे किसने बनाया? यों इन सवालों की परंपरा चलती ही रहेगी.... इस पर पूर्ण विराम लगेगा ही नहीं! पहले मुर्गी या पहले अंडा? की भांति इसका भी अंत नहीं आयेगा एवं न ही सही जवाब मिलेगा।

ईश्वर यानी कौन?

क्यों ईश्वरने इस दुनिया का निर्माण किया? ईश्वर तो उसे ही कहा जा सकता है जो कि सर्वज्ञ हो.... सर्व शक्तिमान हो, इच्छा-आकांक्षा एवं कौतुहलवृत्ति जैसे दोषों से दूर हो.... सर्वथा मुक्त हो!

यदि इश्वर सचमुच में ऐसा है तो वह क्यों ऐसी दुःख-त्रास एवं वेदना से बिलबिलाती दुनिया का निर्माण करेगा? यदि ईश्वर सर्व शक्तिमान है तो फिर क्यों उसने दुनिया की आबादी के ८७.५ प्रतिशत लोगों को दुःख-गरीबी एवं अभाव में धकेला और केवल १२.५ प्रतिशत लोगों को ही सुखी कहा जा सके वैसा जीवन दिया? क्यों?

ईश्वर ने यदि अपनी इच्छा से या कौतूहल से ऐसी अराजक एवं अंधाधुंध सृष्टि की रचना की हो, तब तो पहला सवाल ही यह पैदा होगा कि जो इच्छा के अधीन हो.... उसे ईश्वर कहा जायेगा क्या? खुद की मौज के खातिर दूसरों को दुःखी करनेवाले को करुणानिधान कैसे कहा जायेगा? इच्छा यही तो सबसे बड़ा दोष है! दोष की उपस्थिति में भगवत्ता कैसे प्रगट हो सकती है?

ईश्वर ने सब को अपने अपने पाप-पुण्य के अनुपात में सुख-दुःख दिये हैं' ऐसा मानेंगे तो, क्यों उस ईश्वर ने कुछ लोगों को पुण्य करने की इच्छा एवं शक्ति दी? क्यों अच्छे कार्य करने की सन्मति दी? ताकि उसके फलस्वरुप उन्हें सुख-सुविधा मिली? और बहुत सारे लोगों को गलत कार्य करने की बुद्धि दी? ताकि जिसके फलस्वरुप उन्हें गरीबी, भूख, अभाव एवं मनहूसी की जिंदगी ढोना पडे! क्यों? पहले गुनाह करना, या गुनाह करने वाले को देखते हुए भी रोकना नहीं.... और फिर गुनाह के बतौर उन्हें सजा करना.... यह कैसा इन्साफ ईश्वर का? न्यायाधीश स्वयं ही यदि गुनाह करने की प्रेरणा दे.... तो गुनहगार से भी ज्यादा सजा न्यायाधीश को मिलनी चाहिए।

ऐसे सैकडों प्रश्नों के बिगूचन में पडे बगैर बेहतर यही होगा कि इस सृष्टि को ही हम अनादि मान लें! चूंकि आखिर किसी न किसी तत्व को अनादि तो मानना ही पड़ेगा तो फिर इस विश्व को ही अनादि क्यों न माना जाये! जिससे कि कम से कम अनसुलझे सवालों का संघर्ष तो न रहे!

ऐसा भी कैसे कहा जा सकता है कि 'इस सृष्टि के सभी प्राणी ईश्वर के प्रतिबिम्ब-छाया मात्र हैं? अंशरुप हैं? प्रतिकृति रुप हैं?' नहीं, यदि ऐसा माना जाये तो फिर एक ईश्वर के मुक्त होने से ही सभी आत्माओं को मुक्त हो ही जाना चाहिए। ईश्वर यदि सुखी है.... दुःखी नहीं है तो सभी जीवों को सुख मिलना चाहिए। किसी को भी वैयक्तिक रुप में मुक्ति के लिये साधना की कठिन राहों से गुजरना न पड़े! या फिर ईश्वर के जैसा ही सबका स्वरुप होना चाहिए।

इस सृष्टि में जीने वाले तमाम प्राणी अपना अपना अलग स्वतंत्र एवं निजी अस्तित्व रखते हैं। हर एक व्यक्ति की आत्मा स्वतंत्र है.... हर एक का अलग अस्तित्व है। मुक्त होने के लिये आत्मा को कर्मों के बंधनों से छूटकारा दिलवाने के लिये प्रत्येक प्राणी को व्यक्तिगत पुरुषार्थ करना ही पडता है.... चूंकि, 'धम्मो अप्पसक्खिओ' अंततोगत्वा धर्म वैयक्तिक प्रक्रिया है, निजी साधना है। After all, Religion is always individual!

मुक्ति एवं बंधन हर एक के अपने होते हैं। सुख-दुःख के अनुभव भी प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग एवं निजी होते हैं.... इसलिये ही जैन धर्म कहता है :

इस विश्व को ईश्वर ने बनाया नहीं है अपितु बताया है। वे इस सृष्टि का निर्माण नहीं करते.... विधान करते हैं.... निर्देश करते हैं कि 'सृष्टि ऐसी है'। विश्व का स्वरुप दर्शन-जरुर ईश्वर करवाते हैं। उनके दिव्यज्ञान के प्रकाश में अवलोकन करके हमें विश्व का सही स्वरुप यथावत् दर्शाते हैं। तीर्थंकर भगवंत कहते हैं : संसार अनादि है... उसका प्रारंभ नहीं है... पूर्णाहूति नहीं है... आदि-अंतविहीन यह सृष्टि अनादि अनंत है। हालाँकि समय के प्रवाह में तब्दीलियां होती रहती हैं.... विश्व कभी छोटा होता है, निर्माण एवं नाश, सर्जन व विसर्जन की प्रक्रिया चलती ही रहती है। इसके पीछे किसी एक व्यक्ति का संचालन या आयोजन नहीं है.... समग्र सृष्टि एक स्वयं संचालित व्यवस्था के अधीन है.... अलबत्ता, इस व्यवस्था में महत्वपूर्ण हिस्सा होता है कर्मों का! कर्मसत्ता काफी प्रभाव दिखाती है इस प्रक्रिया में।

नौ तत्व

यों देखा जाय तो यह पूरा संसार दो तत्वों का ही बना हुआ है। दो तत्वों का ही सारा विस्तार है.... ये दो तत्व हैं : जीव एवं अजीव। चेतन एवं जड़। सारी टकराहट एवं सारी अकुलाहट इन दो की ही है। जीव को आत्मा/ चेतन भी कहते हैं। जिसमें चेतना नहीं है.... जीवतत्व नहीं है.... उसे अजीव कहा जाता है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं.... दृश्य, अदृश्य वस्तुएं हैं.... इन दोनों में (जीव एवं अजीव) उन तमाम का आकलन हो जाता है। संसार के पदार्थों को समग्रतया समझने के लिये जिनेश्वर देवों ने उनका नवतत्व (नौ तत्वों में) विभाजन किया गया है।

१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आश्रव, ६. संवर। ७. बंध, ८. निर्जरा, ९. मोक्ष।

इन तत्वों को विस्तार से पहचानें :

१. जीव तत्व

जो बढता है, घटता है, जो खाता है, पीता है, जो सोता है, जगता है, जो कार्य करता है, आराम करता है, आत्मरक्षा के लिये जो कोशिश करता है, जो डरता है, जिसमें प्रजनन शक्ति है, वह है जीव। शरीर के साथ जीव जब जुड़ा हुआ होता है तब उपर्युक्त सारे लक्षण जीव में मिलते हैं। यह सभी जीवात्मा के बाहरी लक्षण हैं।

जीव का अंतरंग लक्षण है चेतना। जैन धर्म मानता है कि आत्मा (जीव) चैतन्यस्वरुप है। अपने मूल रुप को अखंड रख कर भिन्न भिन्न अवस्थाओं में परिणत होती रहती है। जैसे कि सोना वह का वह रहता है.... अंगूठी टूट जाय तो और कुछ भी बन सकता है, पर सुवर्ण तो ज्यों का त्यों रहता है। आकार एवं बाहरी रुप बदल सकता है। वैसे ही आत्मा मूलरुप में ज्यों की त्यों रहती है.... केवल अवस्थाएं बदलती रहती हैं.... पर्याय पलटते रहते हैं। जीव शुभ एवं अशुभ कर्म के मुताबिक चौराशी लक्ष योनि में से किसी भी एक देह को अमुक नियत समय के लिये (आयुष्य) धारण करता है। संसार में आत्मा इंद्रिय एवं विषयों के वश होकर राग-द्वेषादि विकारों के कारण खुद अच्छे-बुरे कर्म करती है एवं उसके बुरे अच्छे परिणाम भी भुगतती है।

देह जितनी हो आत्मा उतनी होकर उसमें रहेगी। देह के परिमाण की भांति आत्मा का भी संकुचन एवं विस्तरण होता रहता है। जैसे समय का न तो कोई आरंभ है, न कभी अंत है, वैसे ही जीव भी अनादि है, अनंत है.... अविनाशी है....। शरीर में स्थित आत्मा की प्रतीति उसके खाने-पीने एवं बोलने-चलने की क्रियाओं या व्यवहार से हो सकती है। चूंकि इन सारी चेष्टाओं के पीछे प्रेरक बल तो आत्मा ही है।

जैन धर्म स्पष्ट तौर पर आत्मा को चेतनामय अरुपी सत्ता मानती है। चेतना का लक्षण है उपयोग! सुख एवं दुःख के द्वारा, ज्ञान एवं दर्शन के द्वारा वह उपयोग व्यक्त होता है। आत्मा निरंजन है.... निराकार है.... आत्मा न तो स्त्री है.... न पुरुष है.... वह तो ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिंड (समूह) है जो कि अरुप है.... अमूर्त है। ऐसी अनंत आत्माएँ हैं।

जीव के प्रकार

जीव के सामान्यतया दो विभाग किये जा सकते हैं।

मुक्त आत्मा - कर्मों के बंधनों से सर्वथा मुक्त हो चुकी शरीर-रहित आत्माएं।

संसारी आत्मा - (२ प्रकार) कर्मों के बंधन से आबद्ध शरीरधारी जीवात्मा।

१. त्रस - जो अपनी इच्छा से हलन चलन कर सके वैसे दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों को 'त्रस' कहा जाता है ।

२. स्थावर - जो अपनी इच्छा से हलन-चलन न कर सके वैसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एवं वनस्पति के जीवों को 'स्थावर' कहा जाता है।

स्थावर :-

५ प्रकार के होते हैं।

इन्हें केवल एक ही इन्द्रिय-स्पर्श-इन्द्रिय होने से एकेन्द्रिय के रुप में जाना जाता है।

पृथ्वीकाय - मिट्टी, रेती के पत्थर, धातु, सूरमा, मूंगा, वगैरह के जीव।

अप्काय - पानी के जीव, हर एक तरह का पानी, बरफ, ओस, कुहरा, ग्लेशियर, बारिश, वगैरह के जीव।

तेऊकाय - अग्नि के जीव, अंगारे, ज्वाला, बिजली, दावानल, गरम राख, वगैरह के जीव।

वायुकाय - वायु-हवा के जीव, कई तरह का पवन, झंझा, तूफान, आंधी-अंधड़ वगैरह के जीव।

वनस्पतिकाय - (२ प्रकार) वनस्पति, हरियाली, शाक-सब्जी, फल, फूल, पेड़, पत्ते डाली, बीज वगैरह।

साधारण - शरीर एक हो पर जीव जिसमें अनंत रहते हों। इस में जमीनकंद, लील, फफूंद, काई, गिलोय वगैरह समाविष्ट होते हैं। इसे अनंतकाय भी कहा जाता है।

प्रत्येक - एक शरीर में एक आत्मा हो। वृक्ष में, जड में, तने में, छिलके में, फूल में, फल में, पत्ते में, बीज में, सभी में अलग अलग जीव होते हैं।

त्रसजीव

दो-इन्द्रिय - (चमड़ी एवं जीभ=दो इन्द्रियाँ ही होने से) शंख, कौडे, कृमि, बासी भोजन के जीव, पोरे, (सूक्ष्म जलजन्तु) लकडी के जीव-कीटाणु वगैरह।

तेइन्द्रिय - (चमड़ी जीभ एवं नाक-तीन इन्द्रियां होने से) खटमल जू-लीख, दीमक, कीडी-चींटी, मकोड़ा, इयल-गेहूँ की लटें, कानखजूरा वगैरह।

चउरिन्द्रिय - (चमड़ी, जीभ, नाक एवं आँख-चार इन्द्रियां होने से) बिच्छू, भ्रमरी, तीड़, मक्खी, डांस, मच्छर, कसारी-तिलचट्टा, मकडी वगैरह।

पंचेन्द्रिय :- (चमड़ी, जीभ, नाक, आंख एवं कान-पांच इन्द्रियाँ होने से)

नारक - नरक के जीव।

तिर्थंच - जलचर, भूचर खेचर वगैरह पशु-पक्षी।

देव - देवलोक में रहनेवाले जीव।

मनुष्य - मनुष्य रुप में जीने वाले जीव।

पंचेन्द्रिय जीव भी दो तरह के होते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय :- मन वाले जीव (मन का अर्थ : दिमाग)

असंज्ञी पंचेन्द्रिय :- मन बगैर के जीव।

छह पर्याप्तियां

पर्याप्ति यानी आहार वगैरह पुद्‌गल - द्रव्यों को ग्रहण कर के अलग-अलग शक्ति के रुप में परिणमित करने की एक विशिष्ट प्रकार की क्षमता। पर्याप्तियां छह प्रकार की हैं :

१ - आहार, २ - शरीर, ३ - इन्द्रिय ४ - श्वासोच्छ्वास, ५ - भाषा एवं ६ - मन :

प्राण : १० - ये भी एक प्रकार की क्षमताएं है।

१. स्पर्शनेन्द्रिय :- स्पर्श करने की क्षमता।
२. रसनेन्द्रिय :- स्वाद लेने की क्षमता।
३. घ्राणेन्द्रिय :- सूंघने की क्षमता।
४. चक्षुरिन्द्रिय:- देखने की क्षमता।
५. श्रवणेन्द्रिय :- सुनने की क्षमता।
६. मनोबल :- सोचने की क्षमता।
७. वचनबल :- बोलने की क्षमता।
८. कायबल :- शारीरिक क्षमता।
९. श्वासोश्वास :- श्वास लेने/ छोडने की क्षमता।
१०. आयुष्य :- जीवनमर्यादा।

किस जीव में कितनी पर्याप्तियाँ एवं कितने प्राण होते हैं?

जीव	पर्याप्तियाँ	प्राण
एकेन्द्रिय	४	४
दोइन्द्रिय	५	६
तेइन्द्रिय	५	७
चउरिन्द्रिय	५	८
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	५	९
संज्ञी पंचेन्द्रिय	६	१०

जिनेश्वर देवों ने काफी सूक्ष्मता से जीवों की विवेचना की है.... अनेक भेद/ प्रभेदों के द्वारा उसका विस्तृत विवेचन किया है.... मुख्यतया ५६३ भेदों के द्वारा उन्होंने जीवों का वर्गीकरण किया है ।

मनुष्य -	३०३	प्रकार
देव -	१९८	प्रकार
तिर्यंच -	४८	प्रकार
नरक -	१४	प्रकार
	५६३	**(कुल)**

२. अजीव तत्त्व

जिसमें चेतना नहीं है.... जिसका जन्म-मृत्यु नहीं है.... जिसे कर्म का बंधन नहीं है.... जो कर्ता नहीं है.... जो भोक्ता नहीं है, जिसमें ज्ञान-दर्शन कुछ भी नहीं.... उसे अजीव, जड़, चेतना-रहित-अचेतन कहा जाता है। जैन तत्वज्ञान संसार के तमाम अजीव पदार्थों को निम्न विभाग में बांटता है।

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय

३. आकाशास्तिकाय

४. पुद्‌गलास्तिकाय

अस्तिकाय - (अस्ति+काय=अस्तिकाय) अस्ति यानी प्रदेश एवं काय यानी समूह, प्रदेशों का समूह यानी अस्तिकाय। इन तत्त्वों को समझने से पहले हम चार शब्दों का परिचय कर लें। ताकि ये तत्त्व स्पष्टता से समझ में आ सकेंगे।

स्कंध - वस्तु का अखंड हिस्सा।

देश - स्कंध के साथ जुड़ा हुआ कुछ हिस्सा।

प्रदेश - स्कंध के साथ संलग्न, पर तोड़ने से अलग न होने वाला हिस्सा।

परमाणु - बिल्कुल सूक्ष्म.... स्कंध से अलग हुआ हिस्सा जिसे निरी आंखों से देखना शक्य न हो।

अस्तिकाय के साथ ये शब्द गाढ रूप से संबंधित हैं। स्कंध देश-प्रदेश ये तीन हिस्से तो सभी में समान-एक से हैं पर एक पुद्‌गल में ही परमाणु विशेष रूप में होता है। दूसरों में परमाणु-को अलग नहीं कर सकते। धर्म-अधर्म एवं आकाश के प्रदेश अविभाज्य हैं। ये तीनों द्रव्य अखंड द्रव्यात्मक माने गये हैं।

काल में प्रदेशों का समूह नहीं होता। हालाँकि भूतकाल भविष्यकाल एवं वर्तमान, यों समय बंटा हुआ है.... पर भूतकाल अभी आया नहीं है.... फिलहाल तो केवल वर्तमान काल ही है। वह भी मात्र एक क्षण या एक समय के रुप में! अतः उसे प्रदेशों का समूह नहीं होता.... इसलिये उसे 'अस्तिकाय' भी नहीं कहते।

जीव भी अस्तिकाय है.... चूंकि वह भी असंख्यात प्रदेशों के समूह रूप है। जीवास्तिकाय एवं काल इन छह को द्रव्य की संज्ञा दी गयी है! ये जैन दर्शन में 'षड्द्रव्य' के रूप में विश्रुत है।

इन छह द्रव्यों का समूह यही तो संसार है! षड्द्रव्यों में से 'जीव' के बारे में हम ने जाना। अब एक नजर जरा बाकी के द्रव्यों पर भी डाले!

वैसे तो धर्म एवं अधर्म यानी शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के रूप में जाना जाता है.... पर यहां जैन दार्शनिक परिभाषा में धर्म का अर्थगतिसहायक, एवं अधर्म का अर्थ किया गया है स्थिति-सहायक। यह विलक्षण विभावना मात्र जैन दर्शन की ही है।

१. धर्मास्तिकाय

गति करते हुए जीव और पुद्‌गल को जो सहायक बने, वही धर्मास्तिकाय कहलाता है। विज्ञानसम्मत जो 'ईथर' (Eather) है उसे धर्मास्तिकाय की संज्ञा दी जा सकती है। गति का तत्त्व समूचे लोग में व्याप्त है । उस का सहारा लेकर जीव एवं जड़ पदार्थों में गति होती है। मछली तैरती है.... पानी के सहारे से। मछली की गति में वैसे तो पानी ही सहायक नजर आता है पर वहां पर धर्मास्तिकाय का अस्तित्व भी है। हम चलते हैं.... गतिशील हैं.... उन सबका अवलंबन है यह धर्मास्तिकाय!

२. अधर्मास्तिकाय

स्थिर रहने में/ रुकने में, खड़े रहने में, बैठे रहने में सहायक बनने वाले तत्व को 'अधर्मास्तिकाय' कहा जाता है। हम खड़े रहते हैं.... बैठते हैं.... मन को स्थिर एवं एकाग्र करते हैं.... कोई भी जीव या जड़ पदार्थ स्थिर रहता है.... स्थिरता की अनुभूति करता है.... उन सबको सहाय रूप होता है यह अधर्मास्तिकाय!

३. आकाशास्तिकाय

रहने के लिये जगह देने वाले द्रव्य को आकाशास्तिकाय कहा जाता है.... धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय जहां तक हैं उसे लोकाकाश कहा जाता है.... जहां उन तत्त्वों का अस्तित्व नहीं है.... वैसे अनंत विस्तार को अलोकाकाश कहा जाता है.... अलोकाकाश में जहां जीव या पुद्‌गल-परमाणु नहीं हैं.... वहां केवल अवकाश है.... 'आकाशास्तिकाय' है।

४. पुद्‌गलास्तिकाय

विज्ञान जिसे 'मेटर' (Matter) की संज्ञा देता है.... उसे जैन दार्शनिक पुद्‌गल का नाम देते है। पुद्‌गल का अत्यन्त सूक्ष्मतम रूप है परमाणु! जैन दर्शन में पुद्‌गल के बारे में बिल्कुल मौलिक एवं अत्यंत सूक्ष्म विभावनापूर्ण विवेचना की गयी है। सब से पहले जैन धर्म ने ही तमाम प्रकार की आवाजें, शब्द, प्रकाश, छाया, अंधेरा, इन सब को पुद्‌गल की संज्ञा दी है। इन सब का कभी भी संपूर्ण विलय नहीं होता है पर अवकाश में स्थिर रहते हैं। आज के वैज्ञानिक आविष्कार टेपरेकार्डर, रेकार्डप्लेयर, टेलीवीजन, वीडीयो रेकर्डर, टेलीफोन, वायरलेस उपकरण, वगैरह इलेक्ट्रोनिक यंत्र.... इन सबके द्वारा पुद्‌गल के बारे में जैन दर्शन की मान्यता सिद्ध ही नहीं अपितु भलीभांति पुष्ट भी हुई है!

समुचा जड़ जगत इस पुद्‌गल की मायाजाल है।

पूरण=बनना, गलन=बिगड़ना यह पूरण-गलन जिसका स्वभाव है उसे कहते है पुद्‌गल! प्रतिपल जो पलटता रहे.... हर क्षण जो बदलता रहे, उसका नाम है पुद्‌गल!

५. काल

प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन आता है.... वह काल का कार्य है। बालक युवान बनता है.... युवान वृद्ध बनता है.... वृद्ध मर जाता है.... वस्तु नई कहलाती हैं.... पुरानी हो जाती है.... यह सब काल का करिश्मा है। भूतकाल/ भविष्यकाल/ वर्तमानकाल इस काल के ही अलग अलग प्रकार हैं। जैन धर्म की कालगणना भी अनूठी एवं अद्‌भूत हैं।

सूक्ष्मकाल	=	1 आवलिका
१,६७,७७,२१६ आवलिकाएं	=	1 मुहूर्त्त
३० मुहूर्त	=	1 दिन व रात
१५ दिन एवं रात	=	1 पखवाड़ा
२ पखवाड़े	=	1 महीना
१२ महीने	=	1 बरस
असंख्य बरस	=	1 पल्योपम
१० कोटा कोटी पल्योपम	=	1 सागरोपम
१० कोटा कोटी सागरोपम	=	1 उत्सर्पिणी
१० कोटा कोटी सागरोपम	=	1 अवसर्पिणी
१ उत्सर्पिणी १ अवसर्पिणी	=	1 कालचक्र

(कोटाकोटी = करोड़ का करोड़ से गुणाकार करना)

३. पुण्यतत्व

मन-वाणी एवं काया की शुभ वृत्ति तथा प्रवृत्ति को पुण्य कहते हैं। इसे शुभ कर्म भी कहते हैं। पुण्य कर्म का सीधा असर आत्मा पर होता है.... इस कारण, इसके फलस्वरूप जीवात्मा को मिलने वाले सुख के तरह तरह के साधन-सुविधाएं, धनिकता, यश - कीर्ति, प्रतिष्ठा - आबरु, जनप्रियता, आरोग्य - तंदुरस्ती, सन्मान, तेजस्विता, बुद्धिमत्ता, सत्ता - समझशक्ति, धर्मप्राप्ति, सत्समागम, सत्संग वगैरह पुण्यकर्म का प्रभाव - प्रताप है।

४. पापतत्त्व

मन-वचन एवं शरीर की अशुभ व अशुद्ध वृत्ति एवं प्रवृत्ति को पाप कहते हैं। अशुभ कर्म अशुभ पुद्‌गल के रुप में भी जाने जाते हैं। पुण्य की भांति पाप का असर भी आत्मा पर गाढ रुप में पड़ता है। इसके परिणामस्वरुप जीवों को तरह तरह के दुःख भुगतने पड़ते हैं.... कष्ट उठाने पडते हैं। गरीबी.... बीमारी.... हिंसा, झूठ, मूर्खता, बदसूरती, बदनामी, वगैरह सब पाप का ही फल है। चोरी, दुराचार, परिग्रह-मूर्च्छा-आसक्ति वगैरह अठ्ठारह प्रकार की मुख्य पाप प्रवृत्तियां हैं.... जिन्हें पाप कहा जाता है।

५. आस्रवतत्त्व

आ+स्रव यानी बहकर आना.... जहां से एवं जिसके द्वारा पाप-कर्म बहते हुए आकर आत्मा को दूषित करें एवं दोषित बनायें.... उसे आस्रव कहते हैं। मुख्यतया मन-वचन काया की अशुद्ध प्रवृत्तियों को आस्रव कहा जा सकता है।

६. संवरतत्त्व

अनजान एवं शकमंद आदमी को भीतर आने से रोकने का कार्य चौकीदार के जिम्मे होता है। कर्मों को आत्मा में आने से रोकने का कार्य करता है यह संवर! व्रत-तप-जप-ध्यान-साधना-भावना वगैरह के द्वारा कर्मों का प्रवाह आत्मा में आने से रुक जाता है। ५८ प्रकार के संवर की चौकी लगाकर कर्मों के प्रवाह को रोका जा सकता है।

७. बंधतत्त्व

आत्मा एवं कर्म का संयोग, जुड़ाव.... उसे कहते है बंध। आत्मा कर्म के पुद्‌गलों को ग्रहण करती है.... ग्रहण करने के बाद वे कर्म आत्मा के साथ क्षीर-नीर की भांति घुलमिल जाते हैं। इस प्रक्रिया को कर्मबंध कहते है। कर्म बांधते वक्त मन के भाव जितने एवं जिस मात्रा में होते हैं.... कर्मबंध भी उसी रुप में होता है। और उसका फल भी वैसा ही मिलता है।

मुख्यरुप से ४ प्रकार का बंध बतलाया गया है।

१ प्रकृतिबंध २ स्थितिबंध ३ रसबंध ४ प्रदेशबंध

८. निर्जरातत्त्व

आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों को उखाड़कर फेंक डालने की वृत्ति एवं प्रवृत्ति का दूसरा नाम है निर्जरा। आत्मा में जमे हुए.... चिकने कर्मों को खत्म करने या जला डालने में बाह्य आभ्यंतर तप की साधना सहायक बनती है। इसके बारह प्रकार मुख्य रुप से बताये गये हैं।

९. मोक्षतत्त्व

आत्मा के शुद्ध स्वरुप पर लगे हुए तमाम प्रकार के कर्मों के आवरण का सर्वथा क्षय हो जाना, उसका नाम है मोक्ष। कर्मों का संपूर्ण एवं सर्वथा क्षय होता है तब आत्मा परमात्म-स्वरुप बन जाती है.... इसके बाद फिर आत्मा के जन्म-मृत्यु नहीं होते हैं। मोक्ष तो आत्मा की सहज अवस्था है। मात्र मानव ही मोक्ष तक की यात्रा कर सकता है। हालाँकि, मोक्षप्राप्ति तक के सफर में समस्त कर्मों का नाश होते ही शरीर भी छूट जाता है.... फिर रहती है केवल आत्मा एवं उसका सत् चित्-एवं आनंदमय सहज स्वभाव! वही सत्य है.... शिव है... सुंदर है....। यह मोक्ष का आनंद शब्द या अक्षरों का विषय नहीं... यह तो अनुभूति की यात्रा है.... लिखा-लिखी या दिखा-दिखी की बात नहीं है.... यह तो स्वयं का स्वयं में मिलना है.... फिर कुछ रहता ही नहीं.... बचता ही नहीं। पर यह सब 'गूंगे केरी सरकरा' वाला हिसाब-किताब है।

कर्म

जैन धर्म कर्म को स्वतंत्र एवं अलग तत्त्व मानता है। उसकी गणना पुद्‌गल में की गई है.... चूंकि शरीर पौद्‌गलिक है.... तो उसका कारण है कर्म! अतः कर्म भी पौद्‌गलिक है। कर्म-पुद्‌गलों का आत्मा पर गहरा प्रभाव भी पड़ता है। आत्मा एवं कर्म का संबंध अनादि है। कर्म जड़ होते हुए भी एक शक्ति के रुप में आत्मा को आवृत्त कर लेते हैं। कभी आत्मा शुद्ध थी.... और बाद में कर्मों ने उसे घेर लिया.... कर्म आत्मा से चिपक गये.... ऐसा नहीं है। आत्मा एवं कर्म अनादि काल से एक है। हालाँकि नये कर्मों को आत्मा में आने से रोका जा सकता है। एवं चिपके हुए, जमे हुए कर्मों को दूर भी किया जा सकता है। जैसे कि खान (mines) में रहा हुआ सोना मिट्टी से भरा हुआ होता हैं.... उसे स्वच्छ किया जा सकता हैं.... अलग.... अलग प्रयोगों के द्वारा उसे निर्मल बनाया जा सकता है.... उसी तरह आत्मा को भी उज्ज्वल किया जा सकता है। उस पर नाजायज अधिकार जमा कर बैठे हुए कर्मों को दूर करके आत्मा को मुक्त किया जा सकता है। चूंकि आत्मा के साथ अनादि कालीन कर्मों का नाता अनंत नहीं है। कर्मों से आत्मा को अलग किया जा सकता है। जब सभी कर्मों का आवरण एवं आतंक दूर होता है.... तब आत्मा का मूलभूत स्वरुप प्रगट होता है। जैन धर्म कर्म-फिलोसॉफी के बारे में बड़ा ही महत्वपूर्ण एवं दीर्घदर्शिता से युक्त, सुंदर विवेचन प्रस्तुत करता है। कर्मबंध की प्रक्रिया काफी समझने जैसी है। पूर्णतया युक्ति-युक्त है/ संगत है....। यहां पर विस्तृत नहीं पर संक्षेप में अपन मुख्य मुख्य आठ कर्मों का नक्शा देख लें :

आत्मा का मूल गुण	**आवृत्त करने वाला कर्म प्रकार**	**कर्म का प्रभाव/ असर**
१. अनंतज्ञान	**ज्ञानावरण**	५ अज्ञान, नासमझी मूर्खता, जड़ता, पढ़ाई न कर सके, अनपढ़, बोलते हुए हकलाना वगैरह।
२. अनंतदर्शन	**दर्शनावरण**	९ अंधापन, इन्द्रियों की अक्षमता/ प्रमाद/ नींद/ बेहोशी/ वगैरह घेर ले।
३. अनंतचारित्र	**मोहनीय**	२८ राग-द्वेष/ ईर्ष्या/ मोह/ वासना/ विवशता/ गाढ आसक्ति/ नफरत/ लुब्धता/ वगैरह दोषों का घिराव।
४. अनंतवीर्य	**अंतराय**	५ सही रास्ते पर चलने का उत्साह पैदा न हो/ दीनता/ गरीबी/ अशक्ति अभावों से पीड़ित हो/ सत्कार्य न कर सके।
५. अक्षयसुख	**वेदनीय**	२ सुख/ स्वस्थता एवं निरामयता भी दे और अस्वस्थता बीमारी-रोग/ दुःख वगैरह भी दे।
६. अक्षयस्थिति	**आयुष्य**	४ जन्म-जीवन एवं मृत्यु के विषचक्र में आत्मा को भटकाता रहे।
७. अगुरुलघुता	**गोत्र**	२ उच्चकुल/ बड़े घराने में पैदा करे। नीचकुल, निम्न स्तर के घर में पैदा करे।

कौन सा कर्म क्यों बंधता है?	कर्म कैसे छूटता है?
१. ज्ञान एवं ज्ञानी की आशातना अवहेलना करना। पढने-पढाने से नाराजगी-नफरत या आलस करने से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।	सम्यग्ज्ञान की आराधना उपासना/ अध्ययन-अध्यापन करने-करवाने से, ज्ञान के प्रचार एवं प्रसार में हिस्सा बंटाना/ ज्ञानीजनों को आदर देना।
२. धर्मशासन की निंदा/ अवगणना करना/ गुणवानों के प्रति अनादर - अबहुमान रखना/ दोषदृटि रखना/ श्रद्धा को शंका से दूषित करने से दर्शनावरणीय कर्म बंधता है।	परमात्मा-भक्ति, श्रद्धा, जिनाज्ञा का पालन करने से/ गुणीजनों को आदर देना/ शासन एवं संघ की प्रभावना करना/ परमात्मा को समर्पित होना, वगैरह से।
३. देवगुरु धर्म का तिरस्कार, प्रगाढ राग व द्वेष/ रुदन विलाप करने से/ वासना में लुब्ध/ मूढ़ बनने से एवं आसक्ति में डूबने से मोहनीय कर्म बंधता है।	सदाचारों का दृढता एवं निष्ठा पूर्वक पालन करना/ वासना एवं विकारों पर अंकुश रखना/ संयमित जीवन जीना/ राग-द्वेष पर काबू रखना वगैरह से ।
४. परमात्मा की आराधना साधना में विक्षेप करने से, हिंसा वगैरह पापों में डूबे रहने से, दान नहीं देने से, औरों को नुकसान करने से अन्तराय कर्म बंधता है।	दान देने से, परमात्मा के दर्शन-वंदन/ पूजन करने से। आराधना - उपासना करने से। सेव-भक्ति, तपश्चर्या, परोपकार एवं संतुष्टि भरा जीवन गुजारने से।
५. गुरुजनों की सेवा सुश्रुषा न करने से। दया/ संयम वगैरह का आचरण न करने से, व्रत वगैरह न स्वीकारने से/ दूसरों को पीड़ा-दुःख देने से अशातावेदनीय कर्म बंधता है।	हिंसा वगैरह पापों से बचने से, दूसरों को सुख-शांति देने के लिये प्रयत्न करने से/ पराये दुःख में हिस्सा बंटाने से। सबके साथ मैत्रीभाव बनाने से शातावेदनीय कर्म बंधता है।
६. हिंसा वगैरह पापों में आकंठ डूबा रहनेवाला तिर्यंच या नरक का आयुष्य बाँधता है, जब कि सत्कार्य करे.... पापों से बचे.... तो देव या मनुष्य गति का आयुष्य बांधता है।	मोक्षमार्ग की वास्तविक आराधना के द्वारा क्रमिक उन्नत, उदात्त जीवन जीकर आत्मा को कर्म रहित बनाने से।
७. संघ एवं संघव्यवस्था के प्रति अनादर/ उपेक्षा एवं अवज्ञा का भाव रखे.... अभिमान में अक्कड़ बना फिरे.... पापों से डरे नहीं तो नीचगोत्र कर्म बंधता है।	संघ के प्रति आदर भक्ति, नम्रता/ मृदुता से भरा व्यवहार/ किसी को हलका नहीं मानना/ अभिमान से बचना/ सभी को प्रेम आदर, सन्मान देने से।
८. माया-कपट न करे.... सद् व्यवहार रखे, सरलता से जिये तो शुभनाम कर्म बंधेगा जबकि इस से विपरीत आचरण करेगा तो अशुभ नामकर्म बंधेगा ।	किसी के भी प्रति इर्ष्या या जलन न रखना। हृदय को स्वस्थ-स्वच्छ रखना। परद्रव्यों में अनासक्ति एवं अलगाव रखने/ बढाने से।

८. अरुपित्व	**नाम**	१०३ शरीर की रचना/ सुंदर - बदसूरती - यश/ अपयश/ सौभाग्य दुर्भाग्य/ मान - अपमान की आँखमिचौली खेलाया करे। तीर्थंकरत्व भी दे।

इन आठ कर्मों के शिकंजे में से आत्मा जब मुक्त हो जाती है तब उसके मौलिक गुण शतदल विकसित हो उठते हैं। बस, वही तो मुक्ति है.... वही मोक्ष है.... यही परमात्मपद है। धर्म की पूरी यात्रा इस परमात्म पद की प्राप्ति करने के लिये ही होती है।

लेश्या

स्फटिक रत्न ज्यों स्वच्छ है.... पारदर्शी है.... वैसे आत्मा भी उसके मूलभूत रुप में एकदम विशुद्ध एवं विमल है। स्फटिक रत्न के सामने जैसा रंग रखा जायेगा.... स्फटिक में रंग की आभा उभरेगी! आत्मा पर भी जब पुद्‌गल द्रव्यों का आधिपत्य हो जाता है तब आत्मा अलग अलग रूप धारण करती है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भटकती रहती है। इन तरह तरह के परिणामों को जैन दार्शनिकों ने लेश्या का नाम देकर निर्दिष्ट किये हैं।

लेश्या यानी मनोवृत्ति। वृत्ति एवं विचार यानी लेश्या। सोचने का, वातावरण का, आहार विहार का, शरीर एवं मन पर

तीव्र-मंद असर होता ही है। उस असर के मुताबिक शरीर का रंग भी बदलता रहता है.... जैसे कि गुस्से में आदमी का चेहरा एकदम लाल हो जाता है.... उसकी आँखों में खून सा उतर आता है। निराशा या हताशा में डूबा हुआ आदमी फीका लगता है.... उसके चेहरे का तेज धूंधला सा जाता हैं.... प्रेम के-राग के क्षणों में चेहरे के अलग रंग उभरने लगते है। ये सारे परिवर्तन लेश्या की बदौलत होते हैं। वृत्ति एवं विचारों से बदलते/ बनते-बिगड़ते रंगों के आधार पर लेश्याओं का समुचित वर्गीकरण किया गया है।

कौन सी लेश्या? कौन सा रंग? किस वृत्ति एवं प्रवृत्ति में से वह मनुष्य गुजर रहा होगा। मरकर कहां जायेगा?

१. कृष्ण

काजल जैसा श्याम रंग इस अवस्था में मनुष्य धर्महीन, दयाहीन, निर्दय, इर्ष्या से जलता हुआ, अत्यंत क्रोधी, वैर वृत्ति में डूबा हुआ कीनाकशी से भरा हुआ रहता है। नरक में जायेगा।

२. नील

मोर की गरदन सा नीला रंग इस स्थिति में मनुष्य आलसी, अभिमानी, डरपोक, वासना में मूढ, एवं दगाबाज, धूर्त होता है। वनस्पति का जीवन मिलेगा।

३. कापोत

कबूतर की गरदन जैसा रंग इस लेश्या में जीवात्मा उदास, उद्विग्न, हताश, निराश, रोनेवाला, परनिंदक, स्वयंश्लाघी एवं असंतुलित मनवाला होता है। पशु या पक्षी की योनि में जायेगा।

४. तेजो

तोते की चोंच के जैसा रंग इस लेश्यावाला जीवात्मा धार्मिक, दयालु, कार्य-अकार्य का विचारक, समीचीन एवं संतुलित व्यक्तित्व का धनी होता है। मर कर मनुष्य रुप में जन्मेगा।

५. पद्म

सोने के रंग जैसा पीला इस लेश्या में जीवात्मा क्षमाशील, त्यागवृत्ति वाला, व्रत पालन में सजग सुख-दुःख में सुस्थिर स्वस्थ एवं सदा प्रसन्न रहनेवाला होता है। मरकर देवलोक में जायेगा।

६. शुक्ल

शंख या गाय के दूध सा श्वेत इस लेश्या में जब जीव स्थिर बनता है तब सर्वज्ञ-राग द्वेष से सर्वथा मुक्त आत्मज्ञानी एवं आत्मानुभव में डूबता है। मुक्त होकर मोक्ष में जाता है।

प्रथम की ३ लेश्याएं अशुभतम्, अशुभतर, अशुभ है। ये आत्मा को दुर्गति में ले जाती है.... जबकि पिछली ३ लेश्याएं शुभ, शुभतर एवं शुभतम होने से जीव को सद्गति में ले जाती है।

लेश्या यह मानव की मनोदशा का चित्रीकरण है। जैनेतर दार्शनिक भी मनोदशा पर आधारित आदमी के अलग अलग रुप-स्वरुप का निर्देश करते हैं । रजोगुण को 'लोहित' बताया है.... चूंकि वह मन को मोह से मूढ़ बना डालता है। तमोगुण को 'कृष्ण' (काला) बतलाया गया है.... क्योंकि वह ज्ञान को आवृत्त करता है। सत्वगुण को शुक्ल-श्वेत दर्शाया गया है.... उसके द्वारा मन प्रसन्न, निर्मल बनता है। आज का पूरा रंगविज्ञान एवं 'रंगचिकित्सा' की बुनियाद लेश्याविज्ञान में स्थित है, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा।

व्यक्ति के पसंदीदा रंगों के माध्यम से उसका व्यक्तित्व, उसके विचार, उसका भविष्य वगैरह सत्य एवं तथ्यात्मक रुप में दर्शाये जा सकते हैं। चेहरा ही नहीं अपितु चेहरे का रंग भी भीतर का आईना हो सकता है।

पुनर्जन्म

जैन धर्म आत्मवादी धर्म है। आत्मा को वह शाश्वत मानता है, अतः पुनर्जन्म में भी उसका दृढ़ एवं प्रतीतिजन्य विश्वास है। पुनर्जन्म यानी जब तक आत्मा कर्मों के साथ संबंधित है, तब तक अलग अलग जन्म धारण करना एवं चार गतिमय संसार में भटकना।

नवजात शिशु को माँ का दूध पीना किसने सिखलाया? किसी ने नहीं! फिर भी वह शिशु गत जन्म की आहारसंज्ञा के प्रभाव से स्तनपान करने के लिये चुलबुलाता है। बच्चा हंसता है.... रोता है.... डरता है.... यह सब क्या है? पूर्वजन्म की संस्कारजन्य स्मृति के परिणाम! ताजा जन्मे हुए बच्चे को जो सुख-दुःख की अनुभूति होती है.... वह भी जन्मजन्मांतर

के संस्कारों का परिणाम है.... पुनर्जन्म यह कर्मबद्ध जीवात्मा की अवस्था का परिवर्तन मात्र है! आदमी जब मर जाता है.... तब मृत्यु केवल उसके शरीर की होती है.... उसकी आत्मा तो उसके सूक्ष्म शरीर (कार्मण एवं तैजस शरीर) के साथ अन्य जगह पर जन्म लेने के लिये प्रयत्नशील हो जाती है।

कोई भी जीवात्मा इस जन्म में जो कुछ भी अच्छा कार्य करता है.... गलत कार्य करता है.... उसका पूरा बदला उसे यहाँ तो मिल नहीं सकता! इसके लिये उसे दूसरे जीवन में जाना ही पड़ता है एवं जीना ही पड़ता है।

परलोक - पुनर्जन्म, यह बात तो वैज्ञानिकों के समक्ष भी सुदृढ, सबूत, एवं मजबूत दलीलों के साथ चुनौती बनकर खड़ी है। इसके लिये आधुनिक वैज्ञानिकों के पास परामनोविज्ञान (Parapsychology) नाम का एक विशेष विभाग है। भारत में एवं विदेश में इस विषय पर काफी महत्वपूर्ण संशोधन हुए हैं, खोजें हुई हैं.... कई ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक अब खुले आम पुनर्जन्म का स्वीकार भी करते है। इस जन्म में गत-विगत जन्मों की स्मृति होना उसे जैन धर्म 'जातिस्मरण ज्ञान' कहता है। जातिस्मरण के सैकड़ों किस्से आज भी उपलब्ध हो रहे हैं.... कुछ तो मशहूर भी हैं।

'ज्योर्ज बर्नाड शॉ' जैसे जानेमाने ब्रिटिश नाट्यकार भी देवदास गांधी (महात्मा गांधी के पुत्र) के साथ अपने एक वार्तालाप के दौरान पुनर्जन्म का स्वीकार करते हुए 'मृत्यु के पश्चात भारत में, और वह भी किसी जैन धर्मावलंबी परिवार में खुद का जन्म हो' वैसी इच्छा दर्शाते हैं।

संज्ञाएं

आठ कर्मों के घेरे में सख्त मजबूती एवं कड़ा हमला यदि किसी का होता है वह है मोहनीय कर्म! सात कर्म तो आत्मा के मूल स्वरुप को आवृत्त करते है.... जब कि यह मोहनीय कर्म तो आत्मा के गुण-स्वरुप को बिल्कुल विकृत कर के रख देता है। इस कर्म के कारण जीवात्मा अलग अलग मनोवृत्तियों का शिकार होता है। उसे जैन परिभाषा में संज्ञा कहा जाता है। संज्ञा यानी वृत्ति! मूर्च्छा.... आसक्ति! आज का मनोविज्ञान जिसे स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ या ग्रंथियाँ कहता है। उसे जैनधर्म १० संज्ञाओं में संकलित करता है।

आहार संज्ञा:- खाने पीने की वृत्ति एवं विचार।
भय संज्ञा :- डर-आतंक महसूस करना एवं विचार करना।
मैथुन संज्ञा :- जातीय संबंधों की वृत्ति एवं विचार।
परिग्रह संज्ञा :- ममत्व-आसक्ति की वृत्ति एवं विचार।
क्रोध संज्ञा :- गुस्से की वृत्ति एवं विचार।
मान संज्ञा :- अभिमान/ अहंकार की वृत्ति एवं विचार।
माया संज्ञा :- कपट/ छल की वृत्ति एवं विचार।
लोभ संज्ञा :- लालच, लुब्धता की वृत्ति एवं विचार।
ओघ संज्ञा :- गतानुगतिक-अनुकरण की वृत्ति एवं विचार।
लोक संज्ञा :- लौकिक मान्यता में जकड़े रहने की वृत्ति एवं विचार।

कषाय

क्रोध, मान, माया एवं लोभ-इन चार संज्ञाओं को कषाय का एक सम्मिलित नाम भी दिया गया है।

'कष' अर्थात् संसार, + `आय' यानी लाभ.... संसार में जो भटकाये.... संसार की वृद्धि में सहायक हो उसे कहते हैं कषाय। कषाय एक आवेगजन्य स्थिति है। इस आवेग को जन्म देने एवं उभारने के लिये जो महत्वपूर्ण हिस्सा रखते हैं उन्हें कहते हैं नोकषाय। ये नौ तरह के हैं।

हास्य - हँसना.... अकारण हँसना.
रति - खुश हो जाना,
अरति - नाराज हो जाना,
भय - डरना.... भयभीत होना।
शोक - शोक करना.... दुःखी होना।
जुगुप्सा - नफरत-घृणा करना.... नाक-भौं सिकोड़ना।
स्त्रीवेद - पुरुष का संसर्ग करने की वासना,
पुरुषवेद - स्त्री का संसर्ग करने की वासना,
नपुंसकवेद - स्त्री-पुरुष का संसर्ग करने की वासना,

पाँच समवाय

कार्य एवं कारण दोनों का बड़ा गाढ़ संबंध है। कारण बगैर कार्य हो नहीं सकता है। कार्य कारण के संबंध को समवाय कहा जाता है । उनके ५ प्रकार बताये गये हैं। विश्व की तमाम लीला इन पाँचों के जरिये होती है।

१. काल [Time]
२. स्वभाव [Nature]
३. भवितव्यता-नियति [Fate]
४. कर्म [Action]
५. पुरुषार्थ [Efforts]

ये पाँच वाद के रुप में भी जाने जाते है। हर एक को अलग-अलग महत्व देनेवाले उसे ही मुख्य मानकर औरों की नितांत अवगणना कर देते हैं.... पर जैनधर्म की अनेकांत दृष्टि इस तरह की किसी भी एकांतिक मान्यता का इन्कार करती है। जैन दर्शन अनेकांत दृष्टिकोण से हर एक समवाय का महत्व दर्शाता है एवं किसी भी क्रिया-प्रतिक्रिया में इन पाँचों समवायों को कारणभूत मानता है। यह ठीक है कि कभी कोई समवाय प्रमुख रहे और अन्य चार गौण बन जाय.... पर पाँचों के बगैर चलेगा नहीं! ये पाँचों अकेले कुछ नहीं कर सकते हैं। एकमेव से जुड़कर ही ये कुछ भी कर सकते हैं।

१. काल

ये सारे जगत का कर्ता-हर्ता है। समूचा संसार इसकी गिरफ्त में है.... आज बीज बोया तो कल ही फल नहीं आ जायेगा.... अमुक समय का अंतर रहेगा.... समय बीतेगा.... और योग्य समय पर ही क्रमशः अंकुर, कली पौधा, पत्ते, फूल वगैरह बनेंगे। हर एक ऋतु का भी निश्चित काल होता है। कर्म का फल भी समय आने पर ही मिलता है!

२. स्वभाव

काल ही सब कुछ नहीं है.... काल आने पर भी कई बीज यों के यों रहते हैं.... विकसित नहीं होते.... स्त्री उम्रलायक होने पर भी पुत्रवती नहीं होती.... बांझ रहती है.... कांटों को नुकीला कौन बनाता है.... फूलों में रंग कौन भरता है? अमुक प्राणियों को किसने खूंख्वार बनाया? किसने उन्हें चंचल व चतुर बनाया? यहां पर स्वभाव ही मुख्य कारण माना जायेगा।

३. भवितव्यता

(नियति) यानी भाग्य.... किस्मत! नशीब में जो लिखा होगा वही होगा! न तो यहां स्वभाव काम आयेगा नही काल का कुछ असर चलेगा.... होनी होकर ही रहती है.... उसमें रद्दोबदल की कतई संभावना नहीं होती! लाख प्रयत्न करने पर भी आदमी मर जाता है.... बचता नहीं है! यह सारा नियतिवाद है।

४. कर्म

जैसे हम कर्म करेंगे वैसा ही हमें फल मिलेगा। दुनिया में जो कुछ भी विचित्रता या विषमता है.... वैविध्य है.... यह सब कर्म का खेल है! कर्म के इशारे पर ही आत्मा नाचती है! अच्छे बुरे सभी कर्मों का फल भुगतना ही पड़ता है!

५. पुरुषार्थ

पुरुषार्थ-प्रयत्न-कोशिश, इसका भी अपना विशिष्ट स्थान है.... काल या स्वभाव या नियति या कर्म के भरोसे रहकर आदमी यदि अकर्मण्य हो जाय.... पुरुषार्थ-प्रयत्न नहीं करे तो वो कुछ नहीं पा सकता! पुरुषार्थ तो करना ही होगा। प्रयत्न के बिना प्राप्ति होना सहज नहीं है!

इन पाँचों में कौन प्रमुख? कौन महत्वपूर्ण? इसका विवाद आजकल का नहीं, सदियों पुराना है! हर एक के पक्ष विपक्ष में तर्क वितर्क का जाल खड़ा किया जा सकता है! एक के पक्षधर अन्य को महत्वहीन बनाते हैं.... बताते हैं! जबकि जैन दर्शन इन पाँचों के बारे में एकांतिक या आत्यंतिक तौर पर कुछ भी नहीं सोचते हुए उनका समूह अस्तित्व मानने को कहता है! पाँचों को एक साथ मानने पर ही सत्य का पता लगेगा।

अध्यात्मरोहण की प्रक्रिया (१४ गुणस्थानक)

साधना एवं सिद्धि!

आध्यात्मिक विकासयात्रा का प्रारंभ होता है साधना से.... और साधना का चरम एवं परम लक्ष्य होता है आत्मविशुद्धि! मुक्ति! मोक्ष!

साधना से सिद्धि की सफर के दौरान साधक आत्मा को उन्नत उन्नततर, उन्नततम भूमिकाओं पर से गुजरना होता है। प्रयत्न एवं परिणाम के बीच कुछ एक प्रतिक्रियाएं होती हैं। इसीलिये प्रत्येक धर्म, प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा में आत्मविकास की कुछ निश्चित अवस्थाएं, भूमिकाएं निरुपित की गयी हैं। उनसे गुजरता हुआ साधक अंततोगत्वा मुक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचता है।

जैन दर्शन ने आत्मिक-आध्यात्मिक विकास के लिये १४ भूमिकाएं नियत की है, आत्मविशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षया जीवों के स्थान को अलग अलग भूमिकाओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इन्हें गुणस्थानक भी कहा जाता है!

गुणस्थानक यानी आत्मिक-चारित्रिक विकास के सोपान। कर्ममल जब दूर होता है.... तब ही जाकर आत्मविशुद्धि का प्रारंभ होता है। आत्मिक विकास आत्मा में रहे हुए गुण-दोषों के आधार पर होता है। आत्मा को दूषित एवं दोषित करने वाले तीन तत्व हैं राग-द्वेष एवं मोह। इन तीनों की तीव्रता व मंदता के कारण साधना के स्तर बदलते रहते हैं। राग-द्वेष एवं मोह की प्रगाढता, यह आत्मा की हीन व निकृष्ट अवस्था है। इन तीनों दोषों की पूर्णतया निवृत्ति-निष्कृति यानी आत्मा की सर्वोन्नत-सर्वोत्तम अवस्था होती है। इन दो अवस्थाओं के बीच आत्मा की जो मध्यम दशाएं है, उनके जो स्तर है वे ही गुणस्थानक कहलाते हैं ।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक

सम्यक् को गलत मानना। यथार्थ को अयथार्थ समझना। अर्थात् जिसकी तत्वश्रद्धा बिल्कुल ही विपरीत हो.... वह मिथ्यादृष्टि है.... उसी को मिथ्यात्व भी कहते हैं। ऐसी एक भी आत्मा नहीं है कि जिसमें कर्मक्षय से उत्पन्न विशुद्धि कम-ज्यादा अंश में न हो! मिथ्यादृष्टि में भी आंशिक विशुद्धि होने से उसे 'गुणस्थानक' कहा गया है।

२. सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सम्यक्त्व (सही समझदारी) एक बार मिल गया पर वापस चला गया.... तत्वश्रद्धा नहीं रही.... इस स्थिति के जीव की भूमिका को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक' नाम दिया गया है! चूंकि उसने एक बार सम्यक्त्व का स्वाद प्राप्त किया है।

३. मिश्र गुणस्थानक

इस स्थान पर रहे हुए जीव की स्थिति बडी ही विचित्र होती है.... न तो वह सम्यग्दृष्टि होता है.... न ही मिथ्यादृष्टि! उसका चित्त हमेशा डँवाडोल रहता है। न ऊपर न नीचे, बीच में लटकते हुए त्रिशंकु सी उसकी हालत होती है।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

नौ तत्वों में पूर्ण श्रद्धा होने से जीव सम्यग्दृष्टि बन जायेगा.... पर त्याग - तप - जप - साधना वगैरह वह नहीं कर सकता। सत्य का ज्ञान एवं श्रद्धा होने पर भी वह आचरण नहीं कर पाता! आत्मचिंतन करता है पर आत्मविशुद्धि की कोशिश नहीं करता है.... अविरत यानी संयमसाधना के लिये निष्क्रिय-उदास!

धर्म को जानते व मानते हुए भी आचरण नहीं होता है.... अधर्म को जानने पर भी उसका त्याग नहीं कर पाता है.... इस तरह की कमजोर मनोदशा अधिकांश जीवों में देखने को मिलती है।

५. देशविरति गुणस्थानक

देश यानी आंशिक। विरत यानी त्याग। इस भूमिका पर स्थित जीवात्मा आंशिक त्याग करता है। यथाशक्य बारह व्रतों का पालन भी करता है। इस अवस्था को छूनेवाली आत्मा कम से कम ३ भव और ज्यादा से ज्यादा १५ भव में मोक्ष को प्राप्त करती है।

६. प्रमत्त संयति गुणस्थानक

साधना में असावधानी को प्रमाद कहते है, प्रमत्त कहते है। संयति यानी साधु। साधु-जीवन के आचार-विचारों के पालन में छूट लेनेवाले साधुओं का स्थान इस गुणस्थानक पर होता है। यहां पर स्थित जीवात्मा भी ३ या १५ भव में मोक्ष में जाते हैं।

७. अप्रमत्त संयति गुणस्थानक

जो साधु मोक्ष के ध्येय को प्रतिपल नजरसमक्ष रखते हुए विशुद्ध संयम का पालन करते हैं.... किसी भी प्रकार की पापवृत्ति या पाप प्रवृत्ति नहीं करते हैं, वे अप्रमत्त संयति कहलाते है। इस अवस्था में स्थित जीवात्मा मद, विषय, कषाय, निंदा और विकथा इन पाँच प्रकार के प्रमादों से सर्वथा व सर्वदा दूर रहते हुए श्रमणजीवन का कड़ा पालन करता है। इस गुणस्थानक पर स्थित जीवात्मा उसी भव में या फिर अगले तीन भव में मुक्त बन जाता है।

८. निवृत्ति-बादर-गुणस्थानक

इस भूमिका को 'अपूर्वकरण' भी कहते है। इस अवस्था में जीवात्मा स्थूल कषायों से निवृत्त होता है। उसकी आत्मविशुद्धि विपुल मात्रा में होती है। राग-द्वेष और मोह को वह ज्यादा से ज्यादा उपशांत करता है। इस गुणस्थानक पर रही हुई आत्मा उसी भव में या ३ भव में मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

९. अनिवृत्ति-बादर गुणस्थानक

इस अवस्था में जीवात्मा के कषाय एकदम अल्प एवं पतले हो जाते हैं। इस ऊँचाई तक पहुँचने पर जीवात्मा कषाय की प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाता है। इस गुणस्थानक पर रही हुई आत्मा उसी भव में या तीन भव में मुक्त हो जाती है।

१०. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक

इस अवस्था पर कदम रखते ही जीवात्मा में लोभ कषाय के अलावा तमाम कषाय उपशांत हो जाते हैं। लोभ कषाय के सूक्ष्म अंश ही उसमें रहते हैं। वह जीवात्मा उसी भव में या तीन भव में मोक्ष तक पहुँच जाते है।

११. उपशांत-मोह गुणस्थानक

यहां पर स्थित जीवात्मा के कषाय अन्तर्मुहूर्त तक उपशमित हो जाते हैं। इस अवस्था में उसी भव में या ३ भव में मोक्ष मिलता है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थानक

यहां पर आते आते जीवात्मा संपूर्ण तथा मोह का क्षय करके वीतराग निर्मोही बन जाती है। उसी भव में मोक्ष प्राप्त करती है।

१३. सयोगी केवली गुणस्थानक

इस अवस्था में आत्मघाती कर्मों से सर्वथा अनावृत्त हो जाती है। पर उसे मन-वचन शरीर होने से सयोगी कहा गया है। उसी भव में मुक्त होती है।

१४. अयोगी केवली गुणस्थानक

आत्मा की उपलब्धि का अंतिम चरण अयोग अवस्था है। यहां पर आत्मा के मूलभूत गुण एवं रुप की प्राप्ति होती है। बाकी बचे हुए सभी कर्मों का क्षय होता है। आत्मा निर्मल और विशुद्ध बनती है। तमाम कर्मों का क्षय होते ही शुद्ध-बुद्ध परमात्मस्वरुप हो जाती है।

आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करने का यही एक मात्र यथावस्थित विकासक्रम है। हर एक आत्मा को इसी क्रम से गुजरना होता है।

प्रमाण

वैसे तो नय एवं प्रमाण दोनों ज्ञान ही है। वस्तु के अनेक धर्म में से किसी एक धर्म या किसी एक पहलू के जरिये वस्तु का निर्णय करना उसे कहते हैं नय! जबकि अनेक धर्म-अनेक पहलूओं के द्वारा वस्तु को निर्णीत करना वह है प्रमाण!

नय वस्तु को एक ही दृष्टिकोण से स्वीकारेगा.... प्रमाण वस्तु को अनेक दृष्टिकोण से सोचेगा-समझेगा। जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरुप जानने को मिलता है उसे प्रमाण कहते हैं। उसके ४ प्रकार हैं।

१. प्रत्यक्ष
२. अनुमान
३. आगम
४. उपमा

१. प्रत्यक्ष - प्रमाण यानी वस्तु को नजरोनजर देखकर ज्ञान प्राप्त करना, निर्णय करना।

२. अनुमान - अर्थात् अंदाज लगाकर वस्तुस्थिति के बारे में सोचना। आवाज सुनकर व्यक्ति का अंदाज लगाना,

वगैरह।

३. आगम - आप्त पुरुषों के द्वारा कथित-रचित शास्त्रों के माध्यम से वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना। आत्मसाधना में मार्गदर्शक एवं सहायक शुद्ध तत्वप्ररुपक वचन ही आगम कहलाते हैं। आगमों में आत्मानुभवी वीतराग परमात्मा का दर्शन एवं चिंतन निबद्ध होता है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भी कई बातें समझ में नहीं आती है.... उन्हें आगम-शास्त्रों से समझनी चाहिए।

४. उपमा - तुलना करके, किसी अन्य के साथ उसका तालमेल बिठाकर वस्तु का निर्णय करना। जैसे कि 'यह आदमी साधु जैसा है!' 'यह बगीचा नंदनवन सा है' वगैरह।

नय

प्रमाण का अंश यानी नय।

अनंत धर्मात्मक वस्तुओं में से किसी एक विशेष धर्म को ग्रहण करके, अन्य धर्मों के प्रति उपेक्षा उदासीनता रखकर जो वर्णन किया जाना है उसे कहते हैं नय!

स्पष्टतौर पर कहें तो किसी भी विषय का एकान्तिक एवं निरपेक्ष निरुपण उसका नाम है नय!

नय के वैसे दो एवं सात प्रकार है!

१. निश्चय नय - जिसके द्वारा वस्तु का भीतरी स्वरुप जाना जाये एवं जो अपवाद मार्ग का आश्रय न ले वह है निश्चय नय।

२. व्यवहार नय - जिसके जरिये वस्तु का बाह्य स्वरुप पहचाना जाये एवं जो अपवाद मार्ग का आश्रय ले उसे कहते हैं व्यवहार नय।

नय के सात प्रकार

१. नैगम नय - नाम मात्र से ही किसी वस्तु या व्यक्ति को उस रुप में मानना.... जैसे कि कपड़े में चिनगारी लगी कि कह देना.... 'मेरा कपड़ा जल गया!'

२. संग्रह नय - थोड़े में ज्यादा को समाविष्ट करना, विशेष पदार्थों को सामान्य रुप में ग्रहण करना.... उसे कहते हैं संग्रहनय।

३. व्यवहार नय - सामान्य को विशेष रुप में ग्रहण करना वह है व्यवहार नय। संग्रहनय से ग्रहित पदार्थों का पृथक्करण करना वह है व्यवहार नय। बाहरी आचरण से ही किसी को सज्जन मान लेना वगैरह।

४. ऋजुसूत्र नय - वर्तमान समय को ही मानकर चलना इस नय का कार्य है । ऋजु यानी सरल... सरलता से सोचना... जैसे कि आज जो कार्य कर लिया सो ठीक है।

५. शब्द नय - इस नय में शब्द का ही महत्व है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति के नाम के शब्द का जो अर्थ निकलता होगा-उसे ही यह नय मान्य रखता है।

६. समभिरुढ नय - शब्दों की अलग अलग व्युत्पत्तियों के मुताबिक अलग अलग अर्थों को स्वीकारना।

७. एवंभूत नय - इस नय का कहना है कि वस्तु या व्यक्ति का जो नाम हो, वैसा ही उसका काम हो.... वैसा ही परिणाम हो.... यों तीनों बातें परिपूर्ण हो तो ही मानना। जैसे कि भक्त जब भक्ति कर रहा हो तभी भक्त कहलायेगा, अन्यथा नहीं!

इन सातों नयों के सामूहिक माध्यम से जो सर्व पदार्थो का स्वीकार करता है वह समकिती है। एक ही वस्तु से हर कार्य पूरा नहीं होता.... बहुत सारी चीजें मिलकर एक निर्माण होता है.... हमें सबको मानना होगा। मकान बनाने के लिये ईंट का जितना महत्व है.... उतना ही चूना, गारा, सिमेन्ट, पत्थर, मिट्टी वगैरह का महत्व है.... यह सब मिलकर ही तो मकान बनता है।

स्याद्‌वाद

स्याद्‌वाद यह न तो संशयवाद है नहीं अनिश्चयवाद है। पर एक ही वस्तु या व्यक्ति को अलग अलग तरह के अभिगमों से देखना.... जानना.... मूल्यांकन करने की सही समझ रखना, उसे कहते हैं स्याद्‌वाद! इसे अनेकांतवाद भी कहते हैं। विश्व के लिये जैन धर्म की यदि कोई बड़ी ही महत्वपूर्ण देन है तो वह है स्याद्‌वाद! अनेकांतवाद की विलक्षण/ विचक्षण विचारधारा!

'स्यात्' यानी कुछ.... जरा.... आंशिक! सत्य हमेशा बहुआयामी (Multidimentional) होता है। कभी सत्य एकान्तिक तौर पर संपूर्ण नहीं होता। सत्य हमेशा सापेक्ष होता है!

एक वस्तु या व्यक्ति को यदि एक ही रूप में स्वीकारा जाय तो तरह तरह के क्लेश/ विसंवादिता एवं संघर्ष का बावेला मच जायेगा। एकांतवाद में अन्य के अभिगम को स्वीकारने की जगह नहीं है.... दूसरों के विचारों को अपनाने की क्षमता नहीं है जबकि अनेकांतवाद-स्याद्वाद में दूसरों के मंतव्य को भी समूचा न्याय मिलता है। जैसे कि -

आप किसी के पुत्र हैं.... आप किसी के भाई भी हो सकते हैं.... किसी के काका-मामा भी लग सकते हैं.... किसी के दोस्त भी होंगे.... किसी के स्वजन भी होंगे। आप एक होते हुए भी आपके पहलू अनेक हैं.... यों एक सत्य भी बहुआयामी होता है। किसी भी विचार या मान्यता को आत्यंतिक रुप से नहीं पकड़ना चाहिए। विचारों में लचीलापन होना जरुरी है। सामने वाले के अभिगम को मानना न मानना अलग बात है.... कम से कम उसे सुनने की, सहन करने की क्षमता तो चाहिये ही।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आलबर्ट आइन्स्टीन (Albert Einstine) का सापेक्षवाद का सिद्धांत (Theory of Relativity) स्याद्वाद की बुनियाद पर ही आधारित है। सत्य को पूर्ण रुप में देखना.... परखना केवल सर्वज्ञ के बलबूते की बात है। आईन्स्टीन भी यही कहते हैं :

We can only know the relative truth, the absolute truth is known only to the Universal Observer.

विचार में अहिंसा, वाणी में अनेकांतवाद और आचार में संयम.... बस यही तो जीवन जीने की गुरु चाबी master key है।

सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, यह जैन धर्म की आराधना-साधना की आधारशिला है।

सम्यक्, समीचीन/ समकित/ सम्यग्दृष्टि/ यह सब एक ही अर्थ के सूचक शब्द हैं।

सम्यक्त्व यानी यथार्थ.... जो पदार्थ, जो तत्त्व जैसा है, उसे उसी स्वरुप में देखना, जानना एवं मानना!

जो जानने योग्य है (ज्ञेय) उसे जानना।

जो छोड़ने योग्य है (हेय) उसे छोड़ना।

जो स्वीकारने योग्य है (उपादेय) उसका स्वीकार करना। सम्यक्त्व का सरल एवं स्पष्ट अर्थ होता है विवेकदृष्टि!

देव-गुरु धर्म का जो स्वरुप जिनेश्वरों ने दर्शाया है उसमें अटूट, अडिग एवं गहरी श्रद्धा - आस्था रखना उसका नाम है सम्यक्त्व! परमात्मा के द्वारा बतलाये हुए नौ तत्वों को मानना.... जानना.... उसका नाम है सम्यक्त्व!

सम्यक्त्व का विपरीत एवं विरोधी शब्द है मिथ्यात्व! मिथ्यात्व यानी बिल्कुल उल्टी समझ, गलत मान्यता। वस्तु की यथार्थता को न समझते हुए एवं न मानते हुए अयथार्थता में डूबे रहना....। जब आत्मा की क्षितिज पर सम्यक्त्व का सूर्योदय होता है तब निम्न पाँच बातें कम/ ज्यादा मात्रा में उभरने/ निखरने लगती हैं।

शम :- शांत, प्रशांत अवस्था, द्वन्द्वों के बीच जीते हुए भी चित्त की प्रसन्नता/ संतुलन अखंड रहना।

संवेग :- मोक्षमार्ग की आराधना के लिये आंतर उत्साह प्रकट होना.... धर्मक्रियाओं की रुचि जगना।

निर्वेद :- सांसारिक सुखभोगों के प्रति सहज वैराग्य एवं अलगाव/ अनासक्ति के फूल भीतर में खिलने लगे।

आस्तिक्य :- नौ तत्त्व एवं मोक्षमार्ग के प्रति यथार्थ श्रद्धा। आचरण कम ज्यादा हो सकता है पर श्रद्धा अखंड होना जरुरी है।

अनुकंपा :- प्राणी मात्र के हित की कामना, मंगल की भावना। दीन-दुःखी जनों के प्रति उदार सहयोगपूर्ण व्यवहार।

ज्ञान (पाँच प्रकार)

जैन धर्म के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। आत्मा ज्ञानमय है.... ज्ञानस्वरुप है। ज्ञान एवं ज्ञानी भिन्न भी माने गये हैं, अभिन्न भी माने गये हैं। यह ज्ञान मुख्यतया पाँच विभागों में बंटा हुआ है ।

१) **मतिज्ञान** - मन एवं इंद्रियों के द्वारा होनेवाला अर्थ का ज्ञान ।

२) **श्रुतज्ञान** - मन एवं इंद्रियों के द्वारा हुए अर्थज्ञान का वाच्यार्थ ज्ञान, यानी पहले के ज्ञान की विशद व्याख्या/ अर्थ कहने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है। शास्त्र, ग्रंथ, शब्द, अक्षरों के द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान भी श्रुतज्ञान में समाविष्ट हैं।

३) **अवधिज्ञान** - मन एवं इन्द्रियों की सहाय के बगैर आत्म-शक्ति से अमुक नियत मर्यादा-सीमा तक के मूर्त पदार्थों की जानकारी देनेवाला ज्ञान।

४) **मनःपर्यवज्ञान** - मन एवं इन्द्रियों के अवलंबन बिना ही आत्मशक्ति से अमुक सीमित मर्यादा में जीवात्मा के मन के

विविध भावों को जानना.... उसका नाम है मनःपर्यवज्ञान।

५) कैवल्यज्ञान - एकदम शुद्ध, संपूर्ण एवं अनंत ज्ञान! इस पर कोई आवरण नहीं होता। मन एवं इन्द्रियों की सहाय के बगैर तीनों लोक के तमाम मूर्त-अमूर्त पदार्थों को एवं मनोभावों को यथावत् जाननेवाला ज्ञान। ऐसे ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म जब संपूर्णतया नष्ट हो जाता है तब यह ज्ञान प्रकट होता है।

ध्यान

मन को किसी भी वस्तु या विचार में एकाग्र करना.... वह है ध्यान। यह ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। यह शुभ-अशुभ ध्यान मुख्यतया चार विभागों में बंटा हुआ है।

आर्तध्यान

मनचाही वस्तु, व्यक्ति या स्थिति प्राप्त करने के लिये तरसना.... तड़पना.... अनचाही वस्तु या स्थिति से छूटने के लिये कोशिश करना.... रोना-कलपना, सर पीटना.... विलाप करना.... शोक में डूबे रहना.... इस सब को आर्तध्यान कहा गया है। यह ध्यान त्याज्य है, इससे बचना चाहिए।

रौद्रध्यान

हिंसा-झूठ-चोरी वगैरह पापों के लिये किसी को मारना, पीटना.... हत्या-खून करना/ करवाना.... वगैरह, तीव्र बौखलाहट में डूबे रहना.... इससे नितांत बचना चाहिए।

धर्मध्यान

जिस वृत्ति या प्रवृत्ति से आत्मा शुद्ध हो.... जीवन पवित्र हो.... उसे धर्मध्यान कहते हैं.... यह ध्यान अवश्य करने योग्य है। इसके ४ प्रकार भी बतलाये गये हैं।

शुक्लध्यान

आत्मा के विशुद्ध-विमल एवं निर्मल स्वरुप की अनुभूति करना.... आत्मसाक्षात्कार करना.... उत्तरोत्तर भीतरी विकास की ओर आगे बढ़ना.... इसे कहते हैं शुक्लध्यान। इसके भी प्रकार (कक्षाएं) बताये गये हैं।

तमाम प्रकार के मोह-दोष वगैरह जब नष्ट होते हैं तब इस ध्यान की भूमिका प्रगट होती है.... यह ध्यान मुक्ति के लिये नितांत जरुरी है ।

इन चारों ध्यान के अन्य भी कई प्रकार है.... ध्यान का विषय भी ज्ञान की तरह काफी विस्तीर्ण एवं अत्यंत गहरा है.... इसके लिये ढ़ेर सारे ग्रंथ लिखे हुए हैं।

नवपद (नौ पद)

आत्मा की शुद्धि एवं सिद्धि प्राप्त करने के लिये मन को शुभ ध्यान में केन्द्रित बनाना/ रखना अत्यंत आवश्यक है। मन की एकाग्रता मिले/ बढ़े, इसके लिये अवलंबन (सहारा) जरुरी है.... जैनधर्म में ध्यान के लिये जितने भी सिद्धांत या दिशानिर्देश हैं, उन सब में नवपद का वर्णन काफी रसपूर्ण एवं सुंदर है। नौ पद जो कि दुनिया के श्रेष्ठ तत्त्व हैं.... उनके गुणों की विभावना के साथ उनका ध्यान यदि निश्चित रंगों के माध्यम से किया जाय तो अवश्यमेव चित्तस्थैर्य का राजमार्ग (Highway) प्राप्त हो सकता है।

नौ पद	गुण	ध्यान के लिये रंग	पहचान
अरिहंत	१२	सफेद/ श्वेत	राग द्वेष रहित, आंतरशत्रु के विजेता/ सभी के लिये पूजनीय।
सिद्ध	८	लाल	सभी कर्मों का आत्यंतिक क्षय करके मुक्त-सिद्ध हो गयी आत्माएं।
आचार्य	३६	पीला	चतुर्विध जैन संघ के सर्वोच्च नेता संघ - शासन की जिम्मेदारी उठाने वाले।
उपाध्याय	२५	हरा	साधु - साध्वी गण को अध्ययन - अध्यापन करवानेवाले, संघ शासन की भीतरी व्यवस्था के वाहक।
साधु	२७	काला	वीतराग प्रणीत मोक्षमार्ग पर शक्ति एवं मर्यादा के अनुसार गतिशील/ प्रगतिशील।

दर्शन	६७	श्वेत	नौ तत्वों में प्रगाढ़ श्रद्धा - आस्था रखना/ परमात्मा की आज्ञा में विश्वास रखना।
ज्ञान	५१	श्वेत	अज्ञान के अंधकार को मिटानेवाला, आत्मज्ञान का दिया जलाने वाला।
चारित्र	७०	श्वेत	सदा-सर्वदा जागरुक रहकर आत्मभाव में अपनी वृत्ति - प्रवृत्ति को जोड़ना।
तप	५०	श्वेत	आहार - विचार एवं विहार को नियंत्रित कर के साधना करना ।

इसमें दर्शन (श्रद्धा) ज्ञान (समझ) चारित्र (आचरण) को रत्नत्रयी भी कहा जाता है। इन तीनों की संयुक्त एवं सम्यक् आराधना वही मोक्षमार्ग है.... वही जीवनध्येय है।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'

मोक्षमार्ग की आराधना करने के लिये -

जीवन की सर्वांगीण साधना करने के लिये -

सही ज्ञान, सही समझदारी एवं सही आचरण होना नितांत आवश्यक है। ये तीन बातें इकट्ठी हों तब ही साधना की राह पर कदम उठाया जा सकता है । एक के अभाव में दूसरी बातें अविकल नहीं रह पाती।

यदि इन्सान को जिन्दगी में भी कुछ प्राप्त करना हो.... कुछ बनना हो.... तो उसके पास वस्तुस्थिति को समझने/ परखने की पैनी बुद्धि या दीर्घदर्शिता होनी जरुरी है। सत्य का स्वीकार करके, पूरी दृढ़ता के साथ उसके प्रति वफादारी निभाने का शौर्य यदि न हो/ कम हो एवं जिस सत्य को अपनाया उसके मुताबिक जीवन का आंतर बाह्य विकास न हो तो संसार के रास्ते में भी निष्फलता-असफलता मिलती है, तो फिर परमपथ मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के लिये ये बातें आत्यंतिक रुप से जरुरी हैं।

समिति एवं गुप्ति

जिनेश्वर देवों ने व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन को भी साधना की सुवास से भरापूरा बनाने के दृष्टिकोण से कुछ ऐसी सुंदर बातें बतलायी है.... कि जिसके आचारण से व्यक्ति/ परिवार समाज एवं राष्ट्र भी उज्ज्वल बन सकते है.... उन बातों में समिति एवं गुप्ति महत्वपूर्ण है.... हालांकि वैसे तो ये बातें श्रमण-जीवन या साधनामय गृहस्थजीवन से संबंधित है, फिर भी यदि हम अपने दैनिक कार्यकलापों में इन बातों को ध्यान में लें तो जरुर हम ज्यादा स्वस्थ ढंग से जी सकते हैं।

५ समितियाँ

समिति यानी जीवन जीने के अनिवार्य एवं आवश्यक प्रवृत्तियों पर भी संयम एवं अनुशासन का पहरा रखकर जीना।

१ ईर्यासमिति - इस तरह सावधानीपूर्वक चलना फिरना...., घूमना ताकि किसी भी जीव की हिंसा न हो, किसी को तकलीफ या पीड़ा न हो, इस प्रकार गमनागमन करना।

२ भाषासमिति - ऐसा और इतना ही बोलना कि जिससे न तो किसी का अहित हो, न किसी का दिल दुःखे, थोड़ा एवं हितकारी, मीठा, सत्य एवं मृदु बोलना। भाषा तो मन की परिभाषा है।

३ एषणा समिति - निर्दोष एवं विधियुक्त आहार, वस्त्र-पात्र वगैरह जीवन यापन की वस्तुएं ग्रहण करना। (विशेषतः साधु जीवन के लिये)

४ आदान-निक्षेपण समिति - उपयोग में आनेवाली चीज-वस्तुओं को लेते हुए-रखते हुए सावधानी रखना। जीवजंतुओं की हिंसा न हो इसका ख्याल करना।

पारिष्ठापनिका समिति - कुछ भी बाहर फेंकना हो, निकालना हो तो किसी जीव की हिंसा न हो.... किसी को पीड़ा या असुविधा न हो इस तरह की सावधानी रखकर फेंकना।

३ गुप्तियां

'गुप्ति' यानी रोकना, गोपन करना। मन-वाणी एवं काया को अशुभ/ अशुद्ध वृत्ति-प्रवृत्ति से बचाकर शुभ एवं शुद्ध वृत्ति-प्रवृत्ति में लगाने का मुख्य उद्देश्य रहा है इस गुप्ति के पालन में।

१ मनोगुप्ति - खराब विचार नहीं करना। मन को पाप विचारों से बचाकर आत्मोन्मुखी बनाये रखने की कोशिश करना।

२ वचनगुप्ति - अपशब्द.... गंदे शब्द.... नहीं बोलना... बेवजह बोलना नहीं.... मौन की साधना करना, खामोश

रहना, गुस्से में जवाब नहीं देना।

३ कायगुप्ति - शरीर का बिनजरुरी हलन-चलन या फालतु उठना-बैठना.... चक्कर लगाना.... घूमनाघामना छोड़कर स्वस्थ होकर अन्तर्मुख बनकर ध्यान में मन एवं शरीर को प्रयुक्त करना।

१६ भावनाएं (१२+४=१६)

भावना यानी चिंतन....। शुभ विचारों का विस्तृतीकरण! अलग अलग बनती-बिगड़ती घटनाओं में आत्मा उलझ न जाये.... बेचैन न हो उठे इस के लिये १६ तरह की भावनाओं का चिंतन जैन धर्म में बतलाया गया है। यदि हम घटनाओं के उफनते दरिये में असंतुलन का शिकार हो रही हमारी विचारकश्ती को भावनाओं के किनारे पर ले चलें तो कोई घटना दुर्घटना नहीं होगी। मन स्वस्थ एवं संतुलित बना रहेगा। इन भावनाओं को अनुप्रेक्षा भी कहते हैं।

अनित्य भावना - जब कोई व्यक्ति/ वस्तु वगैरह का वियोग हो जायं तब सोचना कि इस संसार में शरीर, धन, कुटुंब, परिवार, रिश्ते-नाते, सभी कुछ अनित्य-क्षणभंगुर हैं। पदार्थमात्र विनश्वर है.... कुछ भी तो कायम नहीं रहता.... फिर क्यों ममत्व से पीड़ित होना, क्यों दुःखी होना?

अशरण भावना - जब कोई सहारा न हो.... किसी का अपनत्व न मिले, तब सोचना की, आधि-व्याधि एवं उपाधि से भरे-पूरे इस संसार में आत्मा के लिये एक परमात्मा के अलावा और कौन शरण रुप हो सकता है? एक धर्म ही सच्चा साथ एवं सही आश्रय दे सकता है। अन्य के सहारे की अपेक्षा करनी ही नहीं चाहिए।

संसार भावना - किसी की मृत्यु हो जाये.... संबधों में दरार पड़ जाये तब सोचना कि अनादि अनंत संसार में संबंधों का सातत्य कहां कायम टिकता है? कभी कोई नाता.... कभी कोई रिश्ता.... जन्म बदलेगा, जीवन बदलेगा और रिश्ते नाते बदल चुके होंगे। दुश्मन दोस्ती को तरसेगा.... दोस्त दुश्मनी का लावा फेंकेगा। ऐसे विचित्र संसार में स्थायी एवं मजबूत संबंध रखेंगे कैसे? संसार में संबंधों का स्थायित्व चाहना यानी चलनी में पानी भरना!

एकत्व भावना - जब अकेलापन दहलाने लगे, कोई भी अपना न रहे तब सोचना कि संसार में जीवात्मा जन्म भी अकेला लेता है और अकेला ही मौत का शिकार बनता है। अकेला ही कर्म बांधता हैं और अकेला ही उन कर्मों को भुगतता है, कौन यहां है किसी का? भीड़ एवं आदमियों के टोले में जीते हुए भी इन्सान निरा अकेला है!

अन्यत्व भावना - जब शारीरिक पीड़ा एवं मानसिक पीड़ा की थरथराहट फैलने लगे तब सोचना कि शरीर और आत्मा दोनों भिन्न है.... अलग है....। देह तो जड़ है...., मेरी आत्मा चैतन्यस्वरुप है.... आत्मा अविनाशी है.... उसका विनाश नहीं होता.... देह तो जलकर राख हो जायगी....। पीड़ा शरीर को है, आत्मा तो इससे अलिप्त है.... मैं न तो शरीर हूं.... न शरीर मेरा है....!

अशुचि भावना - जब किसी शरीर का आकर्षण मन में वासना की चिनगारी दहकायें तब सोचना की यह शरीर क्या है? खून, मांस, हड्डियां.... और चर्बी का ढेर मात्र। अंदर कितनी गंदगी? बाहर से गोरीगुलाबी चमड़ी का आवरण है.... अंदर सब ऐसा ही! फिर क्यों इस पर आसक्ति रखना....? क्यों इसको सजाना-संवारना?

आस्त्रव भावना - अशुभ वृत्ति एवं प्रवृत्तियां आत्मा को दूषित व दोषित बनाती हैं.... उनसे बचना चाहिए। ऐसी वृत्तियों को जान लेनी चाहिए और उनका त्याग करना चाहिए।

संवर भावना - मन - वचन - काया की अशुभ एवं अशुद्ध प्रवृत्तियों को दूर करके शुभ वृत्ति - प्रवृत्ति में मन को लगाना.... ताकि कर्मों का बंध न हो। मन को संस्कारों से संवृत्त करना।

निर्जरा भावना - तपश्चर्या करने से कर्मों का नाश होता है.... १२ प्रकार के तप का चिंतन करना। तप करने की भावना बनाना।

लोकस्वरुप - उत्पत्ति/ स्थिति एवं लयात्मक पदार्थों से परिपूर्ण चौदह राजलोकरूप इस सृष्टि का भलीभांति चिंतन करना....।

बोधिदुर्लभ भावना - मानव जीवन, ऊँचा कुल, स्वस्थ शरीर, धर्म, धर्म करने की तमन्ना, वगैरह प्राप्त होना फिर भी सरल है पर धर्मतत्वों पर सही श्रद्धा प्रगट होना बहुत मुश्किल है.... श्रद्धा एवं आस्था को दृढ़/ दृढ़तर बनाना चाहिए। इसके उपायों को सोचना चाहिए।

धर्मस्वाख्यात भावना - जिनेश्वर परमात्मा एवं उनके धर्मशासन के कितने उपकार हैं हम पर! धर्म है तो यह जीवन है.... धर्म की कृपा से, आराधना से हमें सुखसुविधाएं मिलती हैं.... धर्म न हो तो जीना भी दुश्वार हो जाये.... धर्म के क्रियात्मक एवं भावात्मक रुप पर चिंतन करना।

मैत्री भावना - सृष्टि के तमाम जीवात्माओं के प्रति मैत्री-मित्रता का भाव रखना.... किसी के साथ दुश्मनी या शत्रुता नहीं रखना! कितनी छोटी सी जिंदगी....? फिर क्या दुश्मनी करना....! क्यों न हम मैत्रीभरी जिंदगी गुजारें! वगैरह सोचना।

प्रमोद भावना - अपने से ज्यादा गुणवान्/ ज्ञानवान या शक्तिमान आत्माओं के प्रति आदर-बहुमान एवं अंतरंग प्रीति रखना। ईर्ष्या-असूया या द्वेषपूर्ण दृष्टि नहीं रखना। गुणीजनों को देखकर प्रसन्नता/ हार्दिक आनंद व्यक्त करना।

करुणा भावना - दुःखी-दुर्बल एवं अभावग्रस्त जीवों के प्रति सहानुभूति रखना/ उन्हें उपयोगी बनना.... सहारा देना.... उनके दुःखों को दूर करने की तमन्ना रखना/ कोशिश करना।

माध्यस्थ्य भावना - समझाने पर भी जो सन्मार्ग पर न चले ऐसे जिद्दी, अहंकारी एवं पापीजनों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना। उन पर गुस्सा-नफरत या उनसे घृणा न करते हुए उनके हित की कामना करना। परायी पंचायत किये वगैर अपना संभालना। संसार की चिंता छोड़ कर स्वयं की चिंता करना।

जैन साहित्य

जैन साहित्य का क्षेत्र इतना तो विस्तृत एवं गहरा है कि उसका मामूली परिचय देने के लिये भी यदि लिखा जाये तो एक बड़ा ग्रंथ लिखना पड़े! मुख्यतया ४५ जैन आगम जैन साहित्य के प्राचीनतम एवं प्रमाणभूत ग्रंथ माने जाते हैं! पूरा आगम साहित्य ही नहीं अपितु तमाम जैन साहित्य निम्न चार विभागों में बंटा हुआ है।

द्रव्यानुयोग - दार्शनिक मान्यताओं का विवरण, चर्चा, तत्त्वज्ञान एवं सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन जिन में हो।

गणितानुयोग - गणित, भूगोल, खगोल, ज्योतिषशास्त्र वगैरह विषयों का आकलन जिन ग्रंथों में हो।

चरणकरणानुयोग - आचार मार्ग, जीवन व्यवस्था, व्यवहार मार्ग का विवरणात्मक ज्ञान जिसमें संकलित हो।

धर्मकथानुयोग - कथा, वार्ता, दृष्टांत, कला, साहित्य, इतिहास शिल्प वगैरह के ग्रंथ जिसमें रचे गये हों!

सभी विषयों पर जैन साहित्य

इतिहास, जीव विज्ञान, पदार्थविज्ञान, व्याकरण साहित्य, छंद, कला, अलंकार नाटक, संगीत, गीत, ज्योतिष, शिल्प, आयुर्वेद, शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, कोश, काव्य, कथा-कहानी, वगैरह कोई विषय या कोई विभाग ऐसा नहीं है जिस पर जैन आचार्यों ने, मुनियों ने, मनीषियों ने लिखा न हो! संस्कृत-प्राकृत-अर्धमागधी, भाषा में जैसे जैन साहित्य का खजाना उपलब्ध है वैसे ही व्रज, तमिल, कन्नड़, राजस्थानी, गुजराती, मैथिली वगैरह क्षेत्रीय भाषाओं में भी प्रचुर मात्रा में जैन साहित्य मिलता है।

प्रतिनिधि जैन ग्रंथ

श्री तत्त्वार्थ सूत्र

समग्र जैन सिद्धान्तों की वैचारिक एवं व्यवहारिक विवेचना एक ही ग्रंथ में आप खोजना चाहें तो श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र [श्री तत्त्वार्थ सूत्र] में आप पा सकेंगे।

भगवान उमास्वाती (संभवित समय : विक्रम की ३ री शताब्दी) द्वारा संस्कृत भाषा में सूत्रबद्ध रुप में रचित यह छोटा ग्रंथ तमाम जैन संप्रदायों को समानरुप से मान्य है, आदरणीय है। इस ग्रंथ में जैन धर्म का दार्शनिक पक्ष जितनी सूक्ष्मता से विवेचित किया गया है.... साधना खंड एवं व्यावहारिक जीवन व्यवस्था के बारे में भी उतना ही सटीक/ सरल/ सुगम विवरण मिलता है। १० अध्याय (प्रकरण) में संकलित यह ग्रंथ करीबन ३४४ सूत्रों में निबद्ध है। इस ग्रंथ पर बहुत सी व्याख्याएँ हुई हैं। एक झलक तत्त्वार्थ सूत्र की हम भी देखें :

अध्याय	सूत्र	विषय
१	३५	मोक्षमार्ग, तत्वों की विवेचना, निक्षेप, ज्ञान, नय, वगैरह की विवेचना।
२	५२	भावों की विवेचना, सम्यक्त्व/ जीव/ इन्द्रियां, मन, उपयोग वगैरह की विस्तृत विवेचना।
३	१८	नरक एवं नरक से संबंधित बातों का सविस्तर वर्णन, द्वीप-समुद्र-पर्वत मनुष्य, भूमि, आर्य वगैरह का वर्णन, जैन भूगोल का वर्णन।
४	५३	देव-देवलोक-आयुष्य, लेश्या वगैरह का वर्णन।
५	४४	अस्तिकाय, काल, अणु-परमाणु, पुद्गल वगैरह पदार्थविज्ञान का सविस्तर ज्ञान।
६	२६	कर्मबंध के बारे में सविस्तर अध्ययन।
७	३४	श्रावकजीवन के व्रत, भावनाएं वगैरह की विवेचना।
८	२६	बंध, आस्रव, निर्जरा आदि तत्वों का वर्णन।
९	४९	संवर तत्व की विवेचना। धर्मध्यान के बारे में विवेचना।
१०	७	मोक्ष एवं शुक्लध्यान के बारे में वर्णन।

कतिपय प्रभावशाली जैन व्यक्तित्व

जैन धर्म की प्रभावशाली परंपरा को अपने ऊर्जस्वी-तेजस्वी व्यक्तित्व के माध्यम से आलोकित करनेवाले हजारों लाखों महापुरुष इस विश्व में हो चुके हैं....। उन सबके नाम निर्देश के लिये भी एक विशालकाय ग्रंथ चाहिए। उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने में तो बरसों बरस गुजर जाय.... एवं कई ग्रंथ लिखने पड़े। श्रमण भगवान महावीर के पश्चात होने वाले कुछ नाम देखें :

श्रमण गण - गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी, जंबूस्वामी, शय्यंभवसूरि, भद्रबाहुस्वामी, स्थूलभद्र स्वामी, आर्य सुहस्ति, आर्य वज्रस्वामी, आर्यरक्षित, उमास्वाती, पादलिप्त सूरि, सिद्धसेन दिवाकर, देवर्द्धिगणी, हरिभद्रसूरि, बप्पभट्टीसूरि, हेमचंद्राचार्य, हीरविजयसूरि, उपा. यशोविजयजी, वगैरह।

श्रमणी गण - आर्या चंदनबाला, मृगावती, प्रियदर्शना, यक्षा वगैरह सात बहिनें, याकिनी महत्तरा वगैरह।

श्रावक गण - आनंद-कामदेव/ नंदिवर्धन/ सम्राट श्रेणिक/ चेटक/ अभयकुमार/ सम्राट संप्रति/ सम्राट विक्रमादित्य/ आमराजा/ कुमारपाल, महामात्य कल्पक, शकटाल, विमलशाह, वस्तुपाल-तेजपाल, भामाशाह, उदयन मंत्री, पेथडशाह, झांझणशाह, कवि वाग्भट्ट, कवि ऋषभदास वगैरह।

श्राविका गण - सुलसा-रेवति/ जयंती/ १६ सतियां, अनोपमा देवी, प्रथमिणी, वगैरह।

जैन धर्म के संप्रदाय

मुख्यतया जैन धर्म श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दो संप्रदायों में विभक्त है।

श्वेताम्बर :- मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी,

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक

इस वर्ग के साधु-साध्वी श्वेत वस्त्रों को धारण करते हैं, ४५ आगम ग्रंथ, पूर्वाचार्यरचित अन्य तमाम शास्त्र, टीकाएं वगैरह का निष्ठापूर्वक स्वीकार करते हैं। स्त्री एवं पुरुष दोनों के लिये मोक्षमार्ग की समान आराधना - उपासना एवं साधना को मान्य रखते हैं। साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका इस तरह चतुर्विध संघ को मानते हैं। केवलज्ञानी बनने के पश्चात भी वे आहार-पानी ग्रहण कर सकते हैं, ऐसी मान्यता का भी स्वीकार करते हैं। परमात्मा की प्रतिमा की विविध द्रव्यों से पूजा, अंगरचना, शृंगार वगैरह भी स्वीकार करते हैं।

स्थानकवासी -

श्वेताम्बर संप्रदाय के साथ अपने वैचारिक मतभेदों को व्यावहारिक रुप देते हुए लौंकाशाह नामक एक सद्गृहस्थ ने इस संप्रदाय का प्रथम प्रारंभ (वीर निर्वाण के पश्चात २००१ एवं इस्वी सन १४८५ में) किया । श्री भूणाजी लौंकामत के सर्वप्रथम साधु हुए। मंदिर-मूर्ति एवं स्थापनानिक्षेप का साफ इन्कार करनेवाले इस संप्रदाय के अनुयायी ४५ में से ३२ आगम ही मानते हैं। मंदिर-मूर्ति एवं स्थापनानिक्षेप की प्ररुपणा करनेवाले आगमग्रंथों को वे नहीं मान सकते। कुछ निश्चित तरह की मान्यताएं जब संप्रदाय का रुप लेती हैं तब फिर उसके इर्दगिर्द अन्य विधि-निषेध एवं आचारगत नियम जुड़ जाते हैं, ताकि अन्य संप्रदायों से अलग अस्तित्व उभार सके। इसी संप्रदाय में हुए श्री लवजीऋषि ने वि. सं. १७०४, इस्वीसन् १६५३ में अहमदाबाद में मुँह पर मुँहपत्ति बांधने की प्ररुपणा की, जो कि आज भी चालू है।

तेरापंथ

राजस्थान के उदयपुर जिले के केलवा (राजनगर) गाँव में स्थानकवासी संप्रदाय से अलग होकर श्री भीखणजी स्वामी ने वीर निर्वाण २२८७ वर्ष में (इस्वी सन १७६१ में) तेरापंथ मत का प्रचलन किया। स्थानकवासी संप्रदाय की कुछ मान्यताएं तेरापंथ में प्रचलित है, पर ये दयाधर्म एवं दानधर्म का स्पष्टरुप से निषेध करते हैं।

दिगंबर

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६०९ बरस में (इस्वी सन् ८४) रथवीरपुर नगर में शिवभूति नामक श्वेतांबर श्रमण ने अपने गुरु आर्य कृष्णाचार्य के साथ वैचारिक मतभेद को व्यावहारिक रुप देते हुए नग्नत्व को ही मोक्ष का साधन माननेवाले इस संप्रदाय का प्रारंभ किया। स्त्री कभी मुक्ति नहीं पा सकती। स्त्री साध्वी नहीं हो सकती.... केवलज्ञानी आहार नहीं करते.... वगैरह मान्यताओं के साथ साथ श्वेतांबर सम्मत तमाम आगमग्रंथों को वे अमान्य करते हैं। मात्र श्री

कुंदकुंदाचार्य [6 ठीं शताब्दि] एवं उनके पश्चात हुए दिगम्बर परंपरा के आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों को ही मान्यता देते हैं। दिगंबर साधु नग्न रहते हैं.... वे वस्त्र नहीं रखते.... हाथ में कमंडल एवं मयूरपिच्छ रखते हैं.... वे हाथ में ही आहार ग्रहण करते हैं.... मूर्ति की विविध पूजा, शृंगार-अंगरचना को नहीं मानते हैं।

व्यावहारिक वैचारिक एवं आचारगत सिद्धांतों में बुनियादी तौर पर मतभेद-विचारभेद होते हुए भी ये सभी संप्रदाय अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनेकांतवाद, आत्मवाद, कर्मवाद, विश्वव्यवस्था जैसे सिद्धांतों के प्रति एकमत हैं।

सूचना

इस पुस्तक की मर्यादा होने की वजह से इस में तो जैन धर्म का मात्र परिचय ही दिया गया है.... कुछ बातें छूट भी गयी हैं.... जिन्हे सविस्तर जानना हो उन्हे निम्न ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

नवकार मंत्र	-	नमस्कार स्वाध्याय
साधना मार्ग	-	श्रावक प्रज्ञप्ति, धर्मसंग्रह, श्राद्धविधि, धर्मबिन्दु पंचाशक, धर्मरत्न प्रकरण।
भ. महावीर	-	महावीर चरियं, कल्पसूत्र, त्रिशष्टि शलाकापुरुष चरित्र ।
संघ व्यवस्था	-	द्रव्य सप्ततिका।
तीर्थ एवं जिनेश्वर	-	शक्रस्तव, ललितविस्तरा, भगवती सूत्र।
जैन तीर्थ	-	जैन तीर्थ दर्शन १-२/ विविध तीर्थकल्प।
विश्व व्यवस्था	-	लोकप्रकाश/ बृहत्संग्रहाणी/ क्षेत्र समास।
नवतत्व	-	जीवविचार, तत्त्वार्थसूत्र, प्रशमरति।
अस्तिकाय	-	तत्वार्थसूत्र, लोकप्रकाश, पंचास्तिकाय।
कर्म-तत्त्वज्ञान	-	कर्मग्रंथ, कम्मपयडि, विशेषावश्यक भाष्य।
लेश्या	-	भगवती सूत्र, लेश्याकोश, उत्तराध्ययन सूत्र/ पंचाशक।
पुनर्जन्म	-	विशेषावश्यक भाष्य।
स्याद्वाद	-	स्याद्वाद रत्नाकर/ अनेकांतजयपताका, स्याद्वाद मंजरी, सम्मतितर्क/
सम्यक्त्व	-	सम्यक्त्व सप्ततिका/ तत्वार्थसूत्र, भगवती सूत्र।
ज्ञान	-	नंदीसूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र।
ध्यान	-	ध्यानशतक, योगशास्त्र, योगबिन्दु/ योगदृष्टि समुच्चय/
नवपद	-	सिरि सिरिवाल कहा/ श्रीपाल रास/
भावना	-	शांतसुधारस
महापुरुष	-	जैन पट्टावलियां, जैन परम्परा का इतिहास १-२-३-४
जैन साहित्य	-	जैन साहित्य का बृहत् इतिहास १ से ८ भाग।